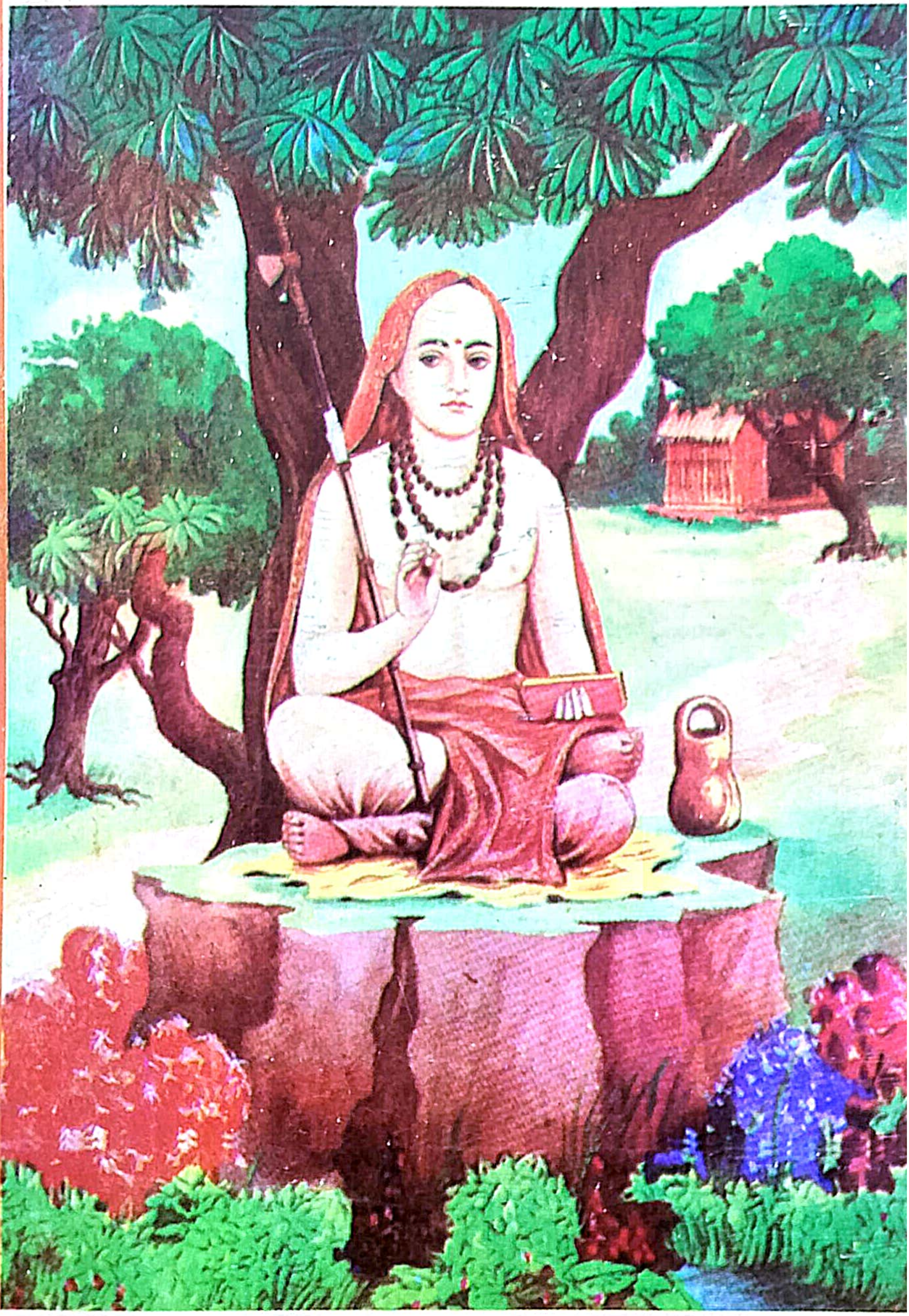
तत्त्व-बोध-दर्शन



व्याख्याकार–

त्र्यम्बकेश्वरश्चैतन्यः

प्रकाशकः
प्रमोद कुमार बंसल
85, कुन्दनपुरा, जैन औषधालय के पास वाली गली
मुज़फ़्फ़रनगर-251002
मो.: 9897657382

प्रथम संस्करण— जून २०१४
प्रतियाँ १०००

मुद्रक— सिटी कलर स्कैल,
मो.: 9359903310

मूल्य— २५/- रु. मात्र

प्राप्ति स्थान— सत्संग भवन ट्रस्ट
निकट पैट्रोल पम्प, शामली रोड
मुज़फ़्फ़रनगर-251002

प्राक्कथन

परमात्मा की असीम अनुकम्पा होने पर ही इस संसार रूपी अरण्य में भटकते हुए जीव को देवदुर्लभ मनुष्य शरीर मिलता है। यह मनुष्य-शरीर अन्य जीवों की भांति आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि मात्र के लिए ही नहीं मिला अपितु यह मानव-शरीर तो परमात्मा की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष के लिए मिलता है। लेकिन जीव सांसारिक विषयों में आकृष्ट होकर उनके उपभोग से प्राप्त अनित्य व अल्प सुखों में इतना आसक्त हो जाता है कि अपने लक्ष्य भगवत्प्राप्ति को भूल जाता है जिससे 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' से छुटकारा नहीं मिलता। परमात्म-तत्त्व अर्थात सच्चिदानन्द स्वरूप की-नित्य सच्चे आनन्द की-प्राप्ति के तीन साधन-भक्ति, कर्म और ज्ञान रूपों से शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं। वैराग्य के द्वारा इनकी पुष्टि होती है। शंकराचार्य जी ने तीन वस्तुओं को दुर्लभ बताया है।

दुर्लभं त्र्यमेवैतत् दैवानुग्रहैतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षत्वं महापुरुषसंश्रयः॥

आचार्य के अनुसार मनुष्यत्व, मुमुक्षत्व (मुक्त होने की इच्छा) और महानपुरुषों की संग-ये तीनों ही दुर्लभ मनुष्य शरीर को पाकर जो साधक संसार के माया-प्रपञ्च से व्याकुल होकर मोक्ष-मार्ग की ओर बढ़ना चाहता है। उसके लिए तत्त्व-ज्ञान महापुरुषों और गुरुजनों के संग के बिना सम्भव नहीं है। श्री स्वामी भगवान् शंकराचार्य जी ने स्वयं कहा है-

नष्टे द्रव्ये कः परिवारः, ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः।

भजगोविन्दं, भजगोविन्दम् इत्यादि उन्होंने तत्त्व-ज्ञान को ही

मोक्ष का साधान माना है। अतः 'तत्त्वबोध' नामक एक संक्षिप्त ग्रन्थ की रचना की है।

श्री शंकराचार्य द्वारा रचित यह ग्रन्थ प्रकरण ग्रन्थ के रूप में जाना गया है। आध्यात्मिक विद्या के प्रतिपादक ग्रंथों जैसे उपनिषद्, गीता आदि को समझने के लिए जिन सहायक ग्रंथों की रचना की गई है उन्हें ही प्रकार ग्रंथ कहते हैं। इस ग्रंथ को पढ़ लने के पश्चात् गीता और उपनिषदों के गूढ़ भावों को समझना सरल हो जाता है। यह 'तत्त्वबोधा' ग्रंथ वेदान्त-दर्शन की प्रथम पुस्तक के रूप में भी प्रसिद्ध है। इसकी विस्तृत व्याख्या स्वयं आचार्य ने अपने 'आत्मबोधा', 'अपरोक्षानुभूति', 'विवेकचूड़ामणि' आदि ग्रंथों में की है। आद्यजगद्गुरु श्री शंकराचार्य जी द्वारा रचित इस संक्षिप्त प्रकरण-ग्रन्थ की विवेचना प्रातः स्मरणीय विद्वत्प्रमुख श्री त्र्यम्बकेश्वर चैतन्य जी महाराज श्री द्वारा 'तत्त्वबोध-चिंतन' इस शीर्षक से सामान्य-साधारण जन के लिए की गई है। आपने यह व्याख्या इतने सरल और स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत की है कि साधक सहज ही इसे पढ़ने के लिए प्रवृत्त हो जाये। एक बार पुस्तक हाथ में लेने के बाद उसे बीच में छोड़ने का मन ही न करे।

इस प्रकरण-ग्रन्थ की, विषय की दृष्टि से, सात भागों में विवेचना की गई है।

परम्परा का निर्वहन करते हुए आचार्य श्री शंकराचार्य जी ने सर्वप्रथम मंगलाचरण श्लोक के 'वासुदेवेन्द्र' शब्द के माधयम से अपने अभिष्ट देव व गुरु की युगपद वेदना की है। मंगलाचरण के उपरान्त प्रथम भाग 'साधन-चतुष्ट्य' के अन्तर्गत संसार में कौन व्यक्ति और कैसे तत्त्वज्ञान का अधिकारी बन सकता है, इसकी

विस्तृत व्याख्या अति सरल शब्दों में की गयी है।

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' एकमात्र ब्रह्म, परमात्म-तत्त्व, आत्मतत्त्व-किसी भी नाम से कहें वही केवल नित्य तत्त्व है, अन्य सारा संसार मिथ्या है, अनित्य है। दूसरे भाग 'तत्त्वविवेक' में इसी आत्मतत्त्व की विस्तृत व्याख्या है। यह आत्म-तत्त्व तीन प्रकार के शरीरों, तीन अवस्थाओं व पंचकोशो से परे है। शरीरत्रय के अन्तर्गत तीन प्रकार के शरीर-स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर की विस्तृत व्याख्या करते हुए ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ, उनके विषय, देवता, तन्मात्रा और महाभूत आदि का वर्णन तालिका के माध्यम से स्पष्ट किया है।

स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीरों से भिन्न होता हुआ आत्मा जागृत, स्वप्न व सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का साक्षी भी है। यह आत्मा पाँच कोषों से परे है। ये पाँच कोष हैं-अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोष। तीन शरीर ही प्रकारान्तर से पंचकोश कहलाते हैं। इस सबकी विशद-व्याख्या करते हुए महाराजश्री ने आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप का यथासंभव उदाहरणों के माधयम से वर्णन किया है।

यह अनित्य संसार माया का प्रपञ्च है। इसकी रचना त्रिगुणात्मिका माया से हुई है। तृतीय भाग 'जगद्रचना प्रकार' के अन्तर्गत जगत् की सूक्ष्म और स्थूल रचना का निरुपण है। इस खण्ड में पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश), 5 प्राण (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश), 5 कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ), 5 ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, घ्राण) के साथ-साथ मन,

बुद्धि, चित्त और अहंकार इन 24 तत्त्वों की उत्पत्ति को बताया गया है। समस्त जगत् की रचना के कारण रूप स्थूल और सूक्ष्म पंचमहाभूत व उनकी पंचीकरण-प्रक्रिया को महाराजश्री ने तालिकाओं व उदाहरणों के माध्यम से इतनी सरलता से प्रस्तुत किया है कि साधारण व्यक्ति भी सहजता से हृदयांगम कर सके।

चतुर्थ भाग '<u>जीव और ईश्वर</u>' में जीव व ईश्वर का सम्बन्ध बताते हुए उनके तात्विक रूप की एकता बताई गई है।

पंचम भाग '<u>तत्त्वमसि</u>' में वेदांत के महावाक्यों 'तत्त्वमसि' व 'अहं ब्रह्मस्मि' का अर्थ स्पष्ट करते हुए जीवात्मा व परमात्मा का एकत्व बताया गया है।

छठे भाग 'जीवन्मुक्त' व सप्तम भाग 'कर्मबंधन से मुक्ति' इन खण्डों में कर्म व कर्म-बंधन का रहस्य विस्तार से स्पष्ट किया गया है। इस कड़ी में कर्म के तीन प्रकार-क्रियमाण, सञ्चित व प्रारब्ध कर्मों को क्रमशः भाग्य और पुरुषार्थ इस प्रकार जन-मानस की भाषा में समझाने का प्रयास अत्युत्तम है। कर्मबंधन का रहस्य बताकर अन्त में उससे छूटने का मार्ग और जीवन्मुक्त होने का विधान भी स्पष्ट किया गया है। जीवन्मुक्त होना ही मानव का अंतिम और सर्वोपरि विशुद्ध कामना है। इस स्थिति में ब्रह्मवेत्ता की स्थिति इस प्रकार होती है-

यदासर्वे प्रमुच्यन्ते कामाः येऽस्य हृदिः श्रिताः।
अथ मृत्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

बृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/7

गीता में इसे ही स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत आदि संज्ञाओं से विभूषित किया गया है।

स्पष्ट है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ इसी बात को प्रतिपादित करता है कि परमात्मा के ज्ञान, तत्त्व-ज्ञान से ही भवरोग का नाश होता है और उत्तम पद की प्राप्ति होती है। तब शरीर और संसार की सत्ता मिट जाती है, एक मात्र परमात्म-सत्ता ही रह जाती है।

यूँ तो इस भाव को व्यक्त करने वाले अन्य अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं परन्तु महाराजश्री द्वारा विरचित यह 'तत्त्वबोधचिंतन' ग्रंथ सरलभाषा में भाववैशिष्ट्य के कारण संसाररूपी सागर को पार करने के इच्छुक साधकों के लिए एक नौका रूप है।

अस्तु!

मधुबाला
प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
जैन गर्ल्स पी.जी. कॉलेज,
मुजफ्फरनगर (यू.पी.)

शुभाशीष

ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्त श्री विभूषित स्वामी श्रीमाधावाश्रम जी महाराज

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि 'आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य जी' द्वारा अभिलिखित 'तत्वबोध प्रकरणग्रंथ (वेदान्त सिद्धान्त रूपी दिव्य महाप्रासाद का प्रथम सोपानभूत) की श्री त्र्यम्बकेश्वर चैतन्य ब्रह्मचारी जी ने सरल, बोधगम्य एवं प्रवाहपूर्ण हिन्दी व्याख्या का अद्वैत वेदान्त के जिज्ञासु सुबुद्ध साधकों-पाठकों के लिए राजमार्ग प्रशस्त कर महान सारस्वत यज्ञ सम्पन्ना किया है।

मैं इस पुस्तक की सफलता की कामना करते हुए लेखक को इस सत्प्रयास के लिए बधाई देता हूँ।

नारायणस्मरण पूर्वक
स्वामी माधवाश्रमः

विषय सूची

तत्त्व-बोध-दर्शन

आदि शङ्कराचार्य विरचित प्रकरण ग्रन्थ तत्त्व-बोधः की-

१. मूल संस्कृत

२. शब्दार्थ

३. हिन्दी-अर्थ तथा

४. दार्शनिक व्याख्या

प्रकाशकः

सत्संग भवन ट्रस्ट

शामली रोड, मुजफ्फरनगर

फोनः 0131-2451417

अपनी बात

शंकरं सद्गुरूं नौमि,
तत्त्वबोधार्थ हेतवे।
जिज्ञासूनां हितार्थाय
करोमि भावसंक्षयम्।।

वेदान्त-प्रक्रिया से आत्मानुसंधान में निरतसुधीजन! बहुत समय से यह प्रयास था कि स्वल्पकाय किन्तु भाववैशद्य के साथ-साथ वेदान्त-प्रक्रिया का प्राथमिक सोपान-भूत 'तत्त्वबोध' नामक जो ग्रन्थ है, वह साधारण जिज्ञासु के लिए प्रकाशित हो। विद्वानों ने बहुत लिखा, परन्तु लिखा विद्वानों के लिए ही है। अत्यन्त साधारण व्यक्ति को ध्यान में रखकर किया गया यह प्रयास कितना सफल होगा, यह तो आने वाला कल बतायेगा। निवेदन यह है कि इसे केवल पढ़ने के लिए न पढ़े अपितु मुझे तो आगे किसी को पढ़ाना है, इसलिए पढ़े। तब आप देखेंगें चमत्कार। आपकी समझ प्रौढ़ होगी, आप सजग हो जायेंगें और परिपक्वता पूर्वक ध्यान से इसका अनुशीलन करेंगें। केवल पढ़ाना ही है इसलिए भी न पढ़े, दूसरों को समझाना है, इसलिए भी न पढ़े अपितु स्वयं समझकर अपने जीवन में इसे व्यावहारिक धरातल पर साकार रूप देना है, इसलिए पढ़ें।

भगवान् शंकराचार्य ने प्राणीमात्र के कल्याण के लिए थोड़े से समय में अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से अनुसंधान कर सार रूप में सब कुछ कह दिया, अभागा मनुष्य यदि अब भी न जगा तो इससे बड़ी हानि और क्या होगी। 'आत्मबोध' में शंकराचार्य जी लिखते हैं-

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम्।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत्।। 54।।

अरे भाई! जिस लाभ से बढ़कर कोई लाभ नहीं, जिस सुख से बढ़कर कोई सुख नहीं, जिस ज्ञान से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं, वह ब्रह्म ही है, ऐसा निश्चय करें।

यद् दृष्ट्वा न परं दृश्यं यद्भूत्वा न पुनर्भवः। यज्ज्ञात्वा न परं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ।।55।।

जिसे देखने पर देखने योग्य अन्य कुछ बचता नहीं, जिससे एकता का अनुभव होने पर जन्म-मरण का झंझट मिट जाता है, जिसको जान लेने पर कुछ जानना शेष नहीं रह जाता, निश्चय ही वह ब्रह्म है।

यह मानव-जीवन तो आत्म-दर्शन के लिए ही मिला, आत्म-ज्ञान के लिए ही मिला है। विषय-भोग तो मानवेतर-योनियों में भी सहजतया स्वभावतः प्राप्त था ही, इसे पाने का प्रयास क्या करना। याज्ञवल्क्य जी कहते हैं-

इह चेत् वेदीदथ सत्यमस्ति नो चेत् इहावेदीन महती विनष्टि-

इस मानवतन के रहते यदि आत्म-तत्त्व को जान लिया तो ठीक है। यदि नहीं जान सके तो महान् विनाश है। जो जीते जी जान गया वही ब्राह्मण है। जो नहीं जान पाया और चला गया वो कृपण है। 'कृपण' शब्द तो कृपाण (तलवार) से भी घातक है। कृपाण तो केवल देह को ही काट सकता है किन्तु कृपण तो आत्म-हन्ता है। यद्यपि आत्मा न मरता है न मारता है (न हन्ति न हन्यते)तदपि उत्कर्ष का ये अवसर व्यर्थ गंवाना ही 'वध' शब्द से कहा गया है।

वेदान्त की साधना 'स्व' की साधना है। स्वकीय सत्ता का यथार्थबोध हो। हम बेकार में ही किसी नाशवान् व्यर्थवस्तु को तो 'स्व' नहीं माने चले आ रहे हैं। स्वयं की स्वयं से मुलाकात ही वेदान्त का ध्येय है।

इस सृजनाराधन में हमारे अनन्य सहयोगी डॉ. गुणप्रकाश चैतन्यजी महाराज, श्री महादेव जी, श्री कृष्णा बाबा जी, आचार्य स्वदेश जी, श्री रामचैतन्य जी, श्री भव्यानन्द जी, श्री नारायण जी, श्री महावीर प्रसाद सेठ जी हैं। इनके सहयोग के बिना यह कार्य संभव नहीं हो पाता।

इस प्रकाशन में सत्संगभवन मुजफ्फरनगर के समर्पित सदस्य श्री प्रेम कीर्ति जी, श्री महेन्द्र जी, श्री श्यामलाल जी, श्री प्रमोद जी आदि सबका धन्यवाद! सब साधुवाद के पात्र हैं। सब आध्यात्मिक प्रसाद को प्राप्त कर

मिथ्या विषाद से विमुक्त हो स्वात्मानन्द का वरण करें।

इसमें जो त्रुटियाँ होंगीं वह मेरा प्रमाद होगा, जो कुछ अच्छा होगा व आपके मन की अच्छाई होगी।

ये आराधान-सुमन समर्पित हैं-सनातनधर्मोद्धारक पूज्यपाद श्री जीवनद जी महाराज, पूज्य श्री धर्म-सम्राट श्री स्वामी करपात्री जी महाराज, जगशंक पूज्य श्री कृष्णबोधाश्रम जी महाराज, मेरे जीवन के आधार पूज्यश्री स्वामी श्र विष्णु आश्रम जी महाराज के पावनतम पादारविन्दों में।

श्री गुरुकृपाधनसम्पन्नः

त्र्यम्बकेश्वरश्चैतन्यः

भृगुक्षेत्र

सर्ववरिष्ठ महर्षिकुल-कमल-दिवाकर

श्री भृगुजी महाराज की तपःस्थली

भृगुक्षेत्र, मेरिया हरिद्वारपुर

अनूपशहर, बुलन्दशहर (उ०प्र०)

शुक्रवार

गुरुपूर्णिमा

15 जुलाई, 2011

आषाढ़ शुक्ल-पूर्णिम

तत्त्वबोध

मङ्गलाचरण

वासुदेवेन्द्रयोगीन्द्रं नत्वा ज्ञानप्रदं गुरुम्।

मुमुक्षूणां हितार्थाय तत्त्वबोधोऽभिधीयते।।

वासुदेव के स्वामी को, योगियों के स्वामी को और ज्ञान प्रदान करने वाले गुरु को नमस्कार करके मोक्ष चाहने वालों के हित के लिए तत्त्वबोध नामक ग्रंथ कहा जाता है।

मूलार्थ=वासुदेवेन्द्र = वासुदेव के (इन्द्र) = स्वामी को, योगीन्द्रं = योगियों के स्वामी को, ज्ञानप्रदं गुरुं = ज्ञानप्रदान करने वाले गुरु को, नत्वा=नमस्कार करके, मुमुक्षूणां = मोक्षाकांक्षियों अर्थात् मोक्ष चाहने वालों के, हितार्थाय = हित के लिए, तत्त्वबोधः = तत्त्वबोध नामक ग्रन्थ, अभिधीयते= कहा जाता है (रचा) जाता है।

ग्रन्थरचना प्रारम्भ करने के पूर्व ईश्वर-वन्दना करने की प्राचीन परम्परा है। ('आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्') इसमें ईश्वर से प्रार्थना की जाती है कि ग्रंथ निर्विघ्न समाप्त हो जाये और जिस उद्देश्य के लिए ग्रन्थ की रचना करने का श्रम किया गया है, वह पूरा हो। प्रस्तुत ग्रंथ श्री शंकराचार्य जी द्वारा रचित है। वे इस मङ्गलाचरण श्लोक में भगवान् शिव की वन्दना करते हैं जिन्हें उन्होंने 'वासुदेवेन्द्रयोगीन्द्र' कहा है।

वसुदेवस्य अपत्यं पुमान् वासुदेवः=कृष्णः। तस्य वासुदेवस्यापि इन्द्रः स्वामी इति वासुदेवेन्द्रः, सः एव योगीन्द्रः योगिनां इन्द्रः स्वामी इति योगीन्द्रः योगिराजः। वासुदेवेन्द्रश्चासौ योगीन्द्रश्च इति वासुदेवेन्द्रयोगीन्द्रः तम् वासुदेवेन्द्रयोगीन्द्रम् = शिवम्।

वसुदेव के यहाँ जन्म लेने के कारण नारायण श्री कृष्ण वासुदेव कहलाए। उन वासुदेव के स्वामी हैं सदाशिव (कृष्णकृत शिवोपासना के विविध प्रसंग पुराणों में हैं उपमन्यु को गुरु बनाकर शिव-दीक्षा में दीक्षित हो कृष्ण ने सांवत्सरिक तप किया है।) वे सदाशिव ही योगीन्द्र भी हैं। इन योगीराज

सदाशिव को नमस्कार करके, ज्ञान प्रदान करने वाले गुरु गोविन्द भगवत्पाद को भी नमस्कार करके मुमुक्षुओं के कल्याण के लिए ये तत्त्वबोधः नामक प्रकरण-ग्रन्थ रचा जा रहा है।

अब तक टीकाकारों द्वारा वासुदेवेन्द्र पद का अर्थ श्रीकृष्ण किया जाता रहा है यह क्यों और कैसे किया? इस पक्ष में युक्तियाँ भी दी गई हैं जैसे-यत्र योगेश्वरः कृष्णः, कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्। फिर शंकराचार्य जी के गुरु का नाम भी गोविन्द था अतः गुरु और इष्ट एक ही होने से दोनों को युगपत् = एक साथ प्रणाम किया है।

किन्तु 'वासुदेव' शब्द का अर्थ कृष्ण होता है न कि 'वासुदेवेन्द्र' का। अब विचारणीय है कि वासुदेवेन्द्र कौन है? स्वयं स्वयं का स्वामी, वासुदेव का स्वामी, वासुदेवेंद्र होगा-इस अर्थ में कहा जा सकता है 'वासुदेवश्चासौ इन्द्रश्च' जो वासुदेव भी है और इन्द्र भी पर कृष्ण तो विष्णु के अवतार माने जाने से उपेन्द्र हैं न कि इन्द्र। अस्तु, हम खण्डन-मण्डन न करके एक दृष्टि रखते हैं, सुधीजन उचित पक्ष ही ग्रहण करें।

शिव ही गुरु हैं-

समस्त वेद-वेदाङ्गसहित ब्राह्मी-विद्या के परमाचार्य हैं सदाशिव। योगन्प्रवर्त्तक भी सदाशिव ही हैं। भागवत् में लिखा है- 'ज्ञानार्थं यजेत् शिवम्' ज्ञानप्राप्ति के लिए शिवाराधन करना चाहिए। समस्त विद्याओं के प्रवर्तक ही शिव हैं। (वेदः शिवः शिवो वेदो) 'गुरुं शंकररुपिणम्' गुरु भी शंकर ही हैं। माता पार्वती शिव के लिए चित्रकेतु से कहती हैं-

जगद्गुरुं मंगलमंगलं स्वयं	-	भागवत	6/17/13
रूद्रं त्रिलोकैकगुरुं ननाम	-	भागवत	12/10/14
जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम्	-	भागवत	4/5/27

और भी-शिवे गुरौ न भेदोऽस्ति भेदकृत् निरये सदा।

दुःखं प्राप्नोति दुर्लंघ्यम् वसति कल्पकोटिभिः।।

शिव ही योगीन्द्र हैं-

संक्षेपतः प्रवक्ष्यामि योगस्थानानि साम्प्रतम्।

कल्पितानि शिवेनैव हिताय जगतां द्विजाः।।

(लिङ्गपुराण 8/1)

समस्त योगस्थान शिव द्वारा ही जगत् के हित के लिए बनाए गए हैं।

योगाचार्यावताराणि तथा तिष्येतुशूलिनः-7/8 लिङ्ग पुराण

प्रतिद्वापरान्त में जैसे व्यासावतार निश्चित है वैसे ही कलियुग में शिवकृतयोगाचार्य अवतार निश्चित हैं।

फिर भी कोई शंका कर सकते हैं कि ग्रंथ प्रणेता शंकराचार्य तो स्वयं शंकर के अवतार हैं तब कैसे स्वयं की वन्दना करेंगें? तब समाधान है-'शिवमानसिक पूजा स्तोत्र' (रत्नैः कल्पितमानसम्.....................आत्मात्वं गिरिजापतिः सहचराः.........करचरणकृतं वाक् कायजं कर्मजं वा) बनाने वाले शिवोपासक शंकराचार्य क्यों शिव-वन्दना नहीं कर सकते। शिवपंचाक्षर स्तोत्र 'नागेन्द्र हाराय त्रिलोचनाय..........' भी इनकी ही रचना है **गुरु**-यह शब्द 'गृ निगरणे' धातु तथा 'गृ' शब्दे धातु से बना है। अज्ञान को निगीर्ण (निगल) कर ज्ञान को प्रदान करने वाला ही गुरु है।

गु=अन्धकार, रु=प्रकाश, अज्ञानान्धकार का निरोध कर ज्ञानप्रकाश से हृदय को आलोकित करने वाली शक्ति ही गुरु है।

गु अंधियारी जानिए, रु कहिए परकाश।

मिटी अज्ञाने ज्ञान दे, गुरु नाम है तास।। -संतकबीर

ईश्वर और गुरु में कोई भेद नहीं है।

अतः शंकराचार्य अपने अभीष्ट देव व गुरु शंकर की एक साथ वन्दना कर ग्रंथ का प्रारम्भ करते हैं।

अनुबन्ध चतुष्टय-ग्रंथ के प्रारम्भ में अनुबन्ध चतुष्टय का उल्लेख करने की भी परम्परा है। उसके द्वारा ग्रंथ के अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है। प्रस्तुत मङ्गलाचरण श्लोक की दूसरी पंक्ति में इन्हीं की ओर संकेत किया गया है।

अधिकारी-मुमुक्षु पद से यह कहा गया है कि तत्वबोध के श्रवण का अधिकारी मुमुक्षु है। मोक्षो मे भूयात् इति इच्छा मुमुक्षाऽस्यास्तीति मुमुक्षुः अर्थात् मेरा मोक्ष हो यह इच्छा ही मुमुक्षा है और यह मुमुक्षा जिसको है वह मुमुक्ष है।

विषयः-सत्तत्त्व का ज्ञान अर्थात् तत्त्वबोध ही विषय है।

प्रयोजन-प्रयोजन अर्थात् उद्देश्य के बिना मन्दबुद्धि पुरुष भी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। कहा गया है-

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।'

तो इस ग्रन्थ रचना का प्रयोजन है मुमुक्षुओं का हित।

सम्बन्ध-बोध्यबोधक भाव सम्बन्ध है।

बोध्य अर्थात् जो जानने योग्य है। और बोधक का अर्थ है ज्ञान कराने वाला।

यहाँ तत्त्वविवेक अर्थात् आत्मज्ञान और उसके प्रतिपादक प्रस्तुत ग्रंथ व अन्य जो प्रमाणभूत उपनिषत् आदि वाक्य हैं उनका परस्पर बोध्यबोधक (प्रतिपाद्यप्रतिपादक) सम्बन्ध है।

-साधनचतुष्टय-

मूलम्=साधनचतुष्टय संपन्न अधिकारिणां मोक्षसाधनभूतं तत्त्वविवेकप्रकारं वक्ष्यामः।

मूलार्थ=साधनचतुष्टयसम्पन्न= चार साधनों से सम्पन्न, अधिकारिणां = अधिकारियों के लिए, मोक्षसाधनभूतं =मोक्ष के साधन बने हुए, तत्त्वविवेकप्रकारं

= तत्त्वविवेक के उस ढंग को, वक्ष्यामः=हम कहते हैं। (आसन्न भविष्य भाव से वर्तमान काल में भी भविष्य का प्रयोग है।)

चार साधनों से सम्पन्न जो अधिकारी हैं, उन अधिकारी (पात्र) जनों के लिए तत्त्वबोध की प्रक्रिया का प्रतिपादन करने जा रहे हैं। जिसका फल है- जो लोग पूर्णतया निष्णात (दक्ष) हो चुके हैं वे स्वरूपस्थिति में बने रहें तथा जो प्राथमिक स्तर पर प्रयासरत हैं उन्हें सुगमता हो जाये, जैसे-स्वच्छ पात्र को पुनः पुनः साफ करते रहना चाहिए, अन्यथा रखे-रखे वह भी मलिन हो जाता है वैसे ही विचार-प्रक्रिया भी मन पर जमने वाली सांसारिक वासना (द्वैत-वासना) की धूल को साफ कर देती है। सर्वविध दुःखों से मुक्त होने का उपाय यदि है तो मात्र तत्त्वतः विवेकपूर्वक विचार ही है। यदि जन्म-मृत्यु को उदय-अस्त, सूर्योदय-सूर्यास्त की तरह मान लें तो तत्कृत हर्ष-शोक से बचा जा सकता है।

अब प्रश्न होता है कि वह अधिकारी कौन है जो तत्त्वबोध के योग्य समझा जाये? इसके उत्तर में कहा जाता है कि जिस व्यक्ति ने विधिवत् चारों वेदों (ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद) का, एवं समस्त वेदाङ्गों (शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्द तथा ज्योतिष) का अध्ययन कर उनके तात्त्विक अर्थ को जान लिया है तथा जिसने इस जन्म अथवा पूर्वजन्म में काम्य (सकाम) कर्मों का त्याग कर दिया है। जिसके चित्त में कामना का लेशमात्र भी नहीं रह गया है। जिसकी निषिद्ध कर्मों यथा सुरापान ब्रह्महननादि की ओर प्रवृत्ति ही नहीं होती। नित्य (सन्ध्योपासना, देवपूजनादि), नैमित्तिक (पुत्रेष्टि, जातेष्टि आदि), प्रायश्चित्त (चान्द्रायण, पराक व्रतादि) तथा उपासना आदि कर्मों के सम्पादन से जिसका अन्तःकरण नितान्त निर्मल हो गया है तथा जो आगे कहे जाने वाले साधनचतुष्टय से सम्पन्न है वही वेदान्तश्रवण का अधिकारी है।

यदि यही लक्षण माना जाये तब तो वेदान्त-श्रवण का अधिकारी मिलना असम्भव हो जायेगा क्योंकि आज के आधुनिक समाज में ऐसा व्यक्ति मिलना अत्यन्त कठिन हो गया है। इस कलि-काल के विषमय वातावरण में ऐसा कौन होगा जो समस्त शाखाओं सहित वेदों तथा वेदाङ्गों को अर्थबोध पूर्वक

पढ़ सके; वह भी मनमाने पुस्तक से नहीं, अपितु गुरुमुख से क्योंकि वेद तो गुरु-मुख से श्रवण करने पर ही सार्थक होता है इसलिए तो वेद को 'श्रुति' भी कहते हैं-

श्रवणार्थत्वात् श्रुतिः।

तब कहते हैं यदि इतने सब लक्षण न घटते हों और वेदान्त-श्रवण की उत्कण्ठा हो तो कम से कम इतना तो अवश्य कर लें कि उनमें धीरता दिखने लगे, वे सौम्य होने लगें, शान्त होने लगें, पल-पल क्रोधादि से बिफरे हुए न लगें। हमारा 'रिमोट्' दूसरों के हाथ में न हो अर्थात् कोई हमें हँसाये तो हँसे, कोई रुलाये तो रोवें, यह ठीक नहीं। किसी के तिरस्कार करने से, अपमान करने से, हानि पहुँचाने से, दिल तोड़ने से, नाता तोड़ने से, घर छूट जाने से, व्यापार में घाटा लगने से हमको रोना नहीं है। किसी के द्वारा सम्मान करने पर, प्रशंसा करने पर, लाभ होने पर, माला पहनाने पर, प्रणाम करने पर हमें प्रसन्न नहीं होना है। जब कोई अपमान या सम्मान करता हो तब शरीर को जड़ (मिट्टी) मानकर इससे अलग हटकर केवल दृष्टा (साक्षी) बनकर देखो कि ये कोई मिट्टी का ही अपमान करता है, सम्मान करता है और देखकर मुस्कुराते रहो। हमारा हर्ष-शोक दूसरों के हाथ में न हो। जैसे रिमोट् से टी. वी. चलाकर लोग दूर बैठे-बैठे मनोरंजन करते हैं, वैसे ही कोई हमें मनोरंजन का साधन न बना ले। हम जगत् का मनोरंजन करने वाले न बनें। जैसे प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व, व्यक्तित्व स्वतन्त्र है; रुप-रंग स्वतन्त्र है; वैसे ही हर्ष-शोक, प्रसन्नता-खिन्नता, गर्व-ग़म के प्रति भी हम स्वाधीन ही हों। सुख-दुःख तो दिन-रात की तरह, सर्दी-गर्मी, धूप-छाँव और पानी पर उठती हुई लहरों की तरह आयेंगें ही। उनका निवारण है तो मात्र विचारपूर्वक विवेक द्वारा उन्हें अनित्य अर्थात् क्षणिक मानने में ही है। वेदान्त श्रवण के उत्सुक सज्जनों को सर्वदा स्मरण रहे कि मेरा आचार-विचार, व्यवहार, भाषा, वेश, खान-पान ऐसा रहे जिससे सात्त्विकता की झलक मिले। किसी को भी हमारी वाणी और क्रिया में अन्तर न दिखे। अन्यथा वेदान्त की कुछ बातें सुनकर, रटने मात्र से कल्याण की अपेक्षा अकल्याण का ही भय रहेगा। वेदान्त-विचार

केवल बातें बनाना नहीं है, अपितु वेदान्त तो जीवन-चर्या है, व्यवहार में लाने योग्य है। वेदान्त भाषण-मात्र में नहीं, आचरण में उतरना चाहिए। कैसी भी विषम से विषम परिस्थिति आ जाये, उसे भी परीक्षा-काल मानकर, धैर्यपूर्वक मुस्कुराते हुए समय बिता दें। ऐसा व्यक्ति वेदान्त-श्रवण का अधिकारी हो सकता है।

मूलतः प्रश्न उठता है मोक्ष क्यों? वेदान्त-श्रवण क्यों?

ये जीव जब जीवन-मरण रुप नाटक के एक ही तरह के अभिनय को बार-बार करते-करते ऊब जाए, इस द्वन्द्व से सन्त्रस्त हो जाये, संसार-सागर की सुखदुःखात्मक उत्ताल तरंगों के थपेड़ों से परिपीड़ित हो विमुक्ति चाहने लगे, तब वेदान्त-श्रवण (जगत् का अनित्यत्व व ब्रह्म का नित्यत्व) उपयोगी हो जाता है।

मोक्ष क्या है?

1. सर्वविधकामनाओं की शून्यावस्था ही मोक्ष है।

2. सुखों के प्रति आकर्षण का अभाव व दुःखों के प्रति जुगुप्सा का अभाव ही जीवन्त मोक्ष है।

3. पुण्य-अपुण्य की समावस्था ही मोक्ष है।

4. भोग की इच्छा बन्धन है, भोगों का त्याग ही मोक्ष है।

'ममेति बन्धनं प्रोक्तं न ममेति मुक्तिरुच्यते'-योगवशिष्ठ

'जगत् को मेरा कहना' यह मानना ही बन्धन है। 'मेरा नहीं है' ऐसा मानना मुक्ति है।

हम जहाँ हैं जैसे हैं, परिपूर्ण ही हैं, परिपूर्णता का यह अहसास ही मुक्ति है। दीनता-याचना एवं अभावों का आभास ही बन्धन है।

'अपेक्षा खुद से क्या खुदा से भी न रहे' यही मोक्ष है।

एक बार को सोचें तो कदाचित् 'मैं' की सीमा तो सीमित है, इससे पीछा

छुड़ाया जा सकता है। किन्तु 'मेरा' अनन्त है। 'मेरा' के आकर्षण में बँधा प्राणी रात–दिन कोल्हू के बैल की तरह पिसता रहता है, छल–कपट करके भी धन कमाता है, जबकि खुद की पूर्ति चार रोटी, दो वस्त्र कहीं भी संभव है किन्तु 'मेरा' (ममता= मेरापन=अपनापन) की भूख मिटा पाना सम्भव नहीं। अथवा गहराई से सोचें तो 'मेरा' के लिए रोने वाला भी 'मैं' के लिए ही रोता है क्योंकि जब तक 'मैं' है तभी तक 'मेरा' है। 'मैं' का अहसास मिटते ही 'मेरा' भी खत्म हो जायेगा। पिता के मरने पर पुत्र पिता के लिए नहीं रोता अपितु पिता के होते प्राप्त होने वाले सुख के चले जाने के भाव से रोता है। किसी भी स्वजन के मरने पर वास्तव में लोग जाने वाले के लिए नहीं रोते, अपितु उससे प्राप्त होने वाले सुख के अभाव की कल्पना से रोते हैं। जैसे–खिलौने के टूटने पर बालक रोता है। पर क्या वास्तव में बालक खिलौने के लिए रो रहा है? बालक तो केवल अपना खेल बिगड़ जाने के कारण रो रहा है। उसे दूसरा खिलौना मिल जाए, वह रोना भूल कर खेलने में मस्त हो जायेगा। वैसे ही हम जो भी कर रहे हैं वह भी अपने अंदर बैठे बुभुक्षावतार, पिपासावतार रूप मन के लिए ही कर रहे हैं। तन का काम तो थोड़े से भी चल जाता है, पर मन तो सारी दुनिया का मालिक बनकर भी संतुष्ट नहीं होता। इस शरीर में मनरूपी विचित्र यन्त्र लगाकर परमात्मा ने प्राणी के साथ खूब मज़ाक किया है। राग–द्वेष की दोनों ओर बहती धाराओं वाले इस मन के पाखण्ड से जो प्राणी थक चुके हैं, इसकी असलियत जान गए हैं, उनके लिए ही तत्त्वबोध–प्रक्रिया है। वे वेदान्त–विचार द्वारा विषाद–शून्य हो, स्वात्मानन्द–सिन्धु में निमग्न होकर मुक्ति को प्राप्त करें।

प्रश्न-मूलम्-साधन चतुष्टयं किम्?

मूलार्थ=साधन चतुष्टय क्या है?

उत्तर-मूलम्- नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रार्थफलभोगविरागः शमादिषट्संपत्ति मुमुक्षुत्वं चेति।

मूलार्थ=नित्यानित्यवस्तु विवेकः-नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, इह–अमुत्र–अर्थ–फल–भोग–विरागः=इस लोक और परलोक में अपने कर्मों के

फल-भोग से वैराग्य, शमादिषट् सम्पत्तिः = शम्, दम्, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान ये छः सम्पत्तियाँ, मुमुक्षुत्वं च इति= और मुमुक्षा अर्थात् संसार के बंधनों से छूट जाने का भाव- ये ही साधन चतुष्टय हैं।

इन चार साधनों से सम्पन्न साधक ब्रह्म-विचार का अधिकारी है। अब विचार करते हैं-ये विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व हैं क्या? क्योंकि साधारणतया विवेक तो सभी को होता है। अविकसित एवं अस्थिर वैराग्य भी सभी को होता ही है यथा कथंचित् शम-दमादि षट् सम्पत्ति का अंश भी पाया जाता है, बिना प्रयास किए मोक्ष चाहने वालों की संख्या भी गणना से परे ही है।

प्रश्न-मूलम्= नित्यानित्यवस्तुविवेकः कः?

मूलार्थ=नित्य-अनित्य वस्तु-विवेकः कः = नित्य= (सदा रहने वाला) और अनित्य = (सदा न रहने वाला) वस्तु का विवेक क्या है?

उत्तर-मूलम्-नित्यवस्तु एकं ब्रह्म तद् व्यतिरिक्तं सर्वम् अनित्यम् अयमेव नित्यानित्यवस्तु-विवेकः

मूलार्थ=नित्यवस्तु=नित्यवस्तु, एकं=एक, ब्रह्म=ब्रह्म, तद्=उससे, व्यतिरिक्तं=भिन्न, सर्वं =सभी कुछ, अनित्यम्= अनित्य है, अयम् एव= यही, नित्यानित्य= नित्य और अनित्य, वस्तु= वस्तु का, विवेकः =विवेक है।

जो तीनों कालों में रहे, वह नित्य है। (त्रिकालाबाध्यत्वं नित्यत्वम्)। जो भूतकाल में था, वर्तमानकाल में है, भविष्य में रहे वह नित्य है। जो अपरिवर्तनीय है, जो अविनाशी है, अविकारी है, वह नित्य है जैसे ब्रह्म। सृष्टि के पूर्व, सृष्टि के रहते, सृष्टि के पश्चात् भी जो रहे वही ब्रह्म नित्य है।

जो परिवर्तनशील है, नाशवान् है वही अनित्य है जैसे संसार। क्षण-भंगुर संसार के दृष्टादृष्ट पदार्थ भूमि-भवन, असन-बसन, अलंकार सभी नाशवान् हैं, अतः अनित्य हैं।

संसरति इति संसारः (सृ गतौ), जो चलायमान है। गच्छति इति जगत्

=जो जा रहा है अर्थात् निरन्तर गतिशील है। देखते-देखते खिला मुस्कुराता हुआ फूल मृत्यु-मुख में चला जाता है, काले, स्निग्ध, सुन्दर बाल देखते-देखते सफेद व आभाहीन हो जाते हैं। वृक्ष फलहीन होकर सूख जाता है, देह नित्य मृत्यु की ओर बढ़ती है। कोई सहसा नहीं मरता, अपितु पल-पल तिल-तिल मरता है। हाँ वह प्रतिपल का मरण इतनी आहिस्ता व निरन्तरता से होता रहता है कि पता ही नहीं चलता अथवा यूं कहें कि भोगासक्त प्राणी जान ही नहीं पाता।

जो अनित्य-अनात्म-जड़-नश्वर वस्तु को तथा उससे भिन्न नित्य आत्म चैतन्य अविनाशी को पृथक् करके जान जाता है, अनित्य पदार्थ की प्राप्ति से जो हर्षित नहीं होता, अप्राप्ति से, अथवा उसके नष्ट होने से जो खिन्न नहीं होता, वही व्यक्ति नित्य-अनित्य वस्तु का विवेकी है।

संसार के पदार्थ व संसार के सम्बन्धी कभी किसी के हुए नहीं, एक दिन छोड़ ही देते हैं, मर मिट जाते हैं। संयोग-वियोग का क्षणिक चमत्कार है यह जगत्।

ऐसे संसार को पाने के लिए किया गया पुरुषार्थ निन्दनीय है। संसार के पदार्थ तो प्रारब्ध के अनुसार मिलकर ही रहेंगें। पुरुषार्थ करें, प्रयास करें तो परमात्मा की प्राप्ति के लिए करें, इसे प्रारब्ध पर नहीं छोड़ना चाहिए।

संसार के नाशवान् आपात् रमणीय भोगों से बचने के लिए किया ग ा पुरुषार्थ वन्दनीय है, सर्वेश्वर को पाने के लिए किया गया पुरुषार्थ भी वन्दनीय है।

२. प्रश्न-मूलम्-विरागः कः?

मूलार्थ=विरागः-वैराग्य, कः-क्या है?

उत्तर-मूलम्- इह स्वर्गभोगेषु इच्छाराहित्यम्।

मूलार्थ=इह=लौकिक भौतिक सुख-सम्पदा (मर्त्य-लोक-सम्बन्धी) स्वर्ग-स्वर्गसम्प्राप्त सुख-सम्पदा (स्वर्ग सम्बन्धी) भोगेषु=भोगों में, इच्छा राहित्यम्=

इच्छा का अभाव होना (ही विराग है)।

इस लोक में जीने वाले प्राणियों को स्वाभाविक आकर्षण स्त्रीदेह के प्रति, स्वर्ण के प्रति, पद-प्रतिष्ठा यश के प्रति विशेष रूप से होता है इसे ही पुत्रैषणा, धनैषणा, यशैषणा कहते हैं।

स्वर्गलोक-सम्बन्धी भोग-अप्सरा, अमृत, जरा-ज्वरादि रहित चिरयौवन के प्रति आकर्षण होता है-दिव्य देवता बनने की ललक भी व्यक्ति को स्वार्थी बना देती है। इस प्रकार दोनों लोक-सम्बन्धी भोगों के प्रति कोई इच्छा ही न उठे। त्याग और वैराग्य में महान् भेद है। त्याग विवशता-परतन्त्रता-बन्धन है। वैराग्य-स्वेच्छा-स्वतन्त्रता-मुक्ति है।

त्याग में वासना मन में प्रविष्ट हो जाती है, वैराग्य में वासना नष्ट हो जाती है। त्याग में त्यक्त वस्तु से भय बना रहता है, उससे बचने के लिए त्यागी दूर भागता है, या उसे दूर हटाने के प्रयास में क्रोध, घृणा आदि का प्रदर्शन करता है; जबकि त्यक्त वस्तु और गहराई में उतर जाती है; परन्तु वैराग्य होने पर निर्भयता है। व्रत में बहुधा अन्न-त्याग होता है पर उस व्रत के दिन भी अन्न के प्रति राग होता ही है। त्याग में राग रहता ही है, किन्तु वैराग्य में त्याग के प्रति दुराग्रह नहीं होता।

संक्षेप में कहें- किसी भी कर्म के फल के प्रति, व्यक्ति-वस्तु-स्थान के प्रति कोई राग न रहे वही वैराग्य है। स्वर्ग-सुख भी तो नाशवान् ही है (क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति) पुण्य क्षीण होते ही स्वर्ग छिन जाता है, अतः उसे भी अनित्य मानकर सांसारिक सुखों की भांति हेय मानने में अमित हित है।

प्रश्न-मूलम्=शमादि साधन संपत्तिः का?

मूलार्थ=शमादि=शम आदि, साधनसंपत्तिः=साधन सम्पत्ति, का=क्या है?

उत्तर-मूलम्= शमो दम उपरमस्तितिक्षा श्रद्धा समाधानं च इति।

मूलार्थ=शम, दम, उपरमः, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये षट्सम्पत्तियाँ है।

जगत् के अनित्यत्व को दृढ़ता से जीवन में उतारने के लिए एक और उत्तम प्रयास है शमादि षट्सम्पत्ति। विवेक वैराग्य के पश्चात् अब इनका विवेचन करते हैं। ब्रह्म नित्य है तदतिरिक्त सब कुछ अनित्य है इस विवेक का सुरक्षा कवच वैराग्य है। विवेक वैराग्य का सुरक्षा कवच है शमादिषट्क सम्पत्तिः।

प्रश्न-मूलम्- शमः कः ?

मूलार्थ=शमः = शम, कः = क्या है?

उत्तर-मूलम्- मनो निग्रहः।

मूलार्थ=मनः = मन का, निग्रहः = नियन्त्रण ही शम है।

संसार के समस्त विषयों में विचारपूर्वक नश्वरता, दुःखमूलकता को समझकर मन को वश में करना ही शम है। यद्यपि मन का निग्रह खेल नहीं है क्योंकि अर्जुन की भी यही समस्या है। "चञ्चलं हि मनः कृष्ण" हे कृष्ण! ये मन बड़ा चञ्चल है, प्रमथनशील है, बलवान है, दृढ़ है, इसको वश में करना वायु को पकड़ने जैसा दुष्कर है। प्रह्लाद जी भी यही कहते हैं- "नैतन्मनस्तवकथासु विकुण्ठनाथ सम्प्रीयते"। यह मन दुरितों से दुष्ट है, असाधु है, हर्ष-शोक-भय-एषणा से आर्त है। संकल्प-विकल्प की उत्ताल तरंगों के थपेड़ों से पीड़ित करने वाला ये मन अभ्यास-वैराग्य द्वारा वश में हो जाता है। पर अभ्यास में निरन्तरता होनी चाहिए। यह जगत् अनित्य है अथवा ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं, यही चिन्तन निरन्तर रहना चाहिए। अतः लाभ या हानि से प्रसन्नता या खिन्नता की तरंग अन्तःकरण में न उठे। स्वप्न में खोने-पाने की भांति जाग्रत का खोना-पाना भी मिथ्या है, ये अभ्यास है। वस्तु-व्यक्ति-स्थान के प्रति राग-निवृत्ति ही मन के निग्रह का साधन होगा। मन के प्रति सदा सशंकित रहने के कारण शास्त्रों ने, सन्तों ने अनेकशः मन को व्यस्त रखने के उपाय बताए हैं। मनन ही मन के नियन्त्रण का अचूक उपाय है। पर प्रश्न उठता है क्या मनन करें? मन न अर्थात् मन है ही नहीं-यही महाचिन्तन करें।

प्रश्न-मूलम्= दमः कः?

मूलार्थ=दमः = दम्, कः = क्या है।

उत्तर= मूलम्= चक्षुरादि बाह्येन्द्रियनिग्रहः।

मूलार्थ=चक्षुरादि = नेत्र आदि, बाह्येन्द्रिय= बाह्य इन्द्रियों का, निग्रहः=नियन्त्रण ही दम है।

जिन इन्द्रियों से विषयों का ज्ञान होता है, उन इन्द्रियों को ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये पाँच विषय हैं इन विषयों का ज्ञान पृथक्-पृथक् इन्द्रियों द्वारा होता है। श्रोत्र (कान), त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका क्रमशः इन इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण होता है। ये इन्द्रियाँ उच्छृंखल होकर कुपथ पर न चलें इसलिए इनका नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है। इन्द्रियों के इस नियन्त्रण को ही दम कहते हैं। दम के अभाव में भी वेदान्तश्रवण व्यर्थ ही रहेगा। इन्द्रियों की कार्य क्षमता को नष्ट न करना; अपितु इनका सही-सही उपयोग करना दम है।

प्रश्न-मूलम्= उपरमः कः?

मूलार्थ=उपरमः-उपरामता, कः= क्या है?

उत्तर-मूलम्= स्वधर्मानुष्ठानमेव।

मूलार्थ=स्वधर्म= अपने वर्णाश्रमोचित धर्म का, अनुष्ठानम्=पालन, एव = ही उपरामता है।

निषिद्धाचार निषिद्धाहार, निषिद्धव्यवहार को सर्वथा त्यागकर, परधर्म की उपेक्षा करते हुए अपने धर्म (कर्त्तव्य) का प्राणपण से आत्मोपासना (ब्रह्मोपासना) मानकर पालन करना ही उपरति है। गीता में श्री कृष्ण ने भी कहा है-"स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः।" सांसारिक व्यवहार से उपरत होकर अर्थात् लोकधर्म का परित्याग करके 'स्व' को (ब्रह्म को) पाने के लिए स्वधर्म का पालन ही, सत्य की खोज ही उपरम है।

परधर्म क्या है? इसे एक उदाहरण से समझते हैं; जैसे डॉक्टर का स्वधर्म है रोगी को स्वस्थ करने के लिए यथाशक्ति प्रयास करना। यदि वह अपना कर्त्तव्य छोड़कर माला फेरने बैठ जाए और रोगी इलाज के अभाव में तड़पने लगे तो डॉक्टर के लिए माला जपना परधर्म हो गया। अर्जुन क्षत्रियोचित स्वधर्म धर्मयुक्त युद्ध से विमुख होकर भिक्षुक बनने जैसी बात करता है तब श्री कृष्ण का उपदेश है कि हे अर्जुन, तू केवल अपने धर्म का पालन करते हुए युद्ध कर, भिक्षा तो ब्राह्मण के लिए अमृतरुप है, अन्य के लिए नहीं। ब्राह्मण के लिए भिक्षा अधर्म नहीं है यदि आवश्यक लगे तो भिक्षा ले अन्यथा न ले; परन्तु अन्य मनुष्य प्राण-रक्षा काल को छोड़कर भिक्षा न लें इस प्रकार भिक्षा ब्राह्मण का स्वधर्म है पर अन्यों के लिए परधर्म। ऋतुस्नानोपरान्त स्वभार्या का सामीप्य गृहस्थ के लिए धर्म है किन्तु संन्यासी के लिए स्वप्न में भी नारी-संग अधर्म है।

प्रश्न-मूलम्-तितिक्षा का?

मूलार्थ=तितिक्षा=तितिक्षा, का = क्या है?

उत्तर-मूलम्-शीतोष्ण सुखदःखादि सहिष्णुत्वम्।

मूलार्थ=शीत=सर्दी, उष्ण= गर्मी, सुख=मन की अनुकूलता, दु:ख = मन की प्रतिकूलता, आदि= आदि को, सहिष्णुत्वम्= सहन करने की प्रवृत्ति को तितिक्षा कहते हैं।

इस छोटे से शब्द में सागर की सी गहराई है कहना तो बड़ा सरल है पर करना बड़ा कठिन है। सर्दी-गर्मी को सहना करना तो शरीर द्वारा ही होता है। सबसे पहले हम सर्दी गर्मी में अविचलित रहना सीख लें तो ही आगे बढ़ें, सुख-दु:ख; मान-अपमान; हानि-लाभ तो भारी प्रहार हैं, उनकी बातें बाद में पहले ये। पर आप पायेंगें कि वेदान्त की चर्चा केवल चर्चा तक ही सीमित है, तितिक्षा केवल सुनने-सुनाने के लिए ही रह गया है। प्राय: सभी भौतिक सुख-सुविधाओं के आदी हो चुके हैं। अस्तु-तितिक्षा है- साम्यावस्था में ले जाने की प्राथमिक-प्रक्रिया मृत्यु पर शोक नहीं, जन्म पर हर्ष नहीं। हर

प्रतिकूल स्थिति को भगवत्कृपा मानकर उद्विग्न हुए बिना साधना में लगे रहन ही तितिक्षा है। चाहे जो हो यह मेरे प्रभु का प्रसाद ही है। बिना शिकायत किए द्रष्टा बनकर केवल आनन्दित हो 'कर रहा हूँ' , 'करा रहा हूँ' की जगह 'हो रहा है' की धारणा दृढ़ बनाऐं। जैसे सूर्य उदय हो रहा है, नदी बह रही है, हवा चल रही है; वैसे ही सब कुछ स्वतः ही हो रहा है। मैं करुँ, न करूँ, ये हो ही रहा है।

प्रश्न-मूलम्-श्रद्धा कीदृशी?

मूलार्थ=श्रद्धा= आस्था, निष्ठा। कीदृशी= कैसी होती है।

उत्तर-मूलम्- गुरुवेदान्तवाक्यादिषु विश्वासः श्रद्धा।

मूलार्थ=गुरु=गुरु जी, वेदान्त=और वेदान्त, वाक्यादिषु=वाक्यों आदि में, विश्वासः=विश्वास ही, श्रद्धा=श्रद्धा है।

सत्कारपूर्वक विश्वास को श्रद्धा कहते हैं। वैसे तो सामान्य व्यवहार में भी व्यक्ति विश्वास के बिना जी नहीं सकता जैसे डॉक्टर की दी हुई दवा को रोगी विश्वास के कारण ही सेवन करता है, वकील पर, क्लर्क पर, बैंक पर, सेवक पर, रसोईये पर, विश्वास करता ही है पर इन पर श्रद्धा नहीं होती। श्रद्धा और विश्वास एक दूसरे के पूरक हैं। भगवान् शिव और पार्वती श्रद्धा और विश्वास की प्रतिमूर्ति हैं-

'भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ-मानस, बालकाण्ड मंगलाचरण

गुरु व गुरुवचनों पर विश्वास का नाम श्रद्धा है। गुरु सत्य तत्त्व का अनुसन्धाता है, आत्मनिष्ठ है, आप्तपुरुष है अर्थात् रागद्वेष के कारण भी जो अन्यथा न बोले वह आप्त है।

(रागद्वेषवशादपि यो नान्यथावादी स आप्तः)

अतः गुरूवचनों पर विश्वास ही सफलता की कुंजी है। साथ ही वेद व वेदान्त वचनों पर भी अटूट विश्वास होना चाहिए। वेद ब्रह्म के श्वासभूत हैं (यस्य निःश्वसितं वेदाः)। उपनिषत् भी वेद ही हैं, (वेदानुसारित्वात्)। अन्य

वेदान्तग्रन्थों का निरुपण व अन्वेषण, भ्रम-प्रसाद-करणपाटवादिदोषरहित, त्रिकालज्ञ, ऋतम्भरा प्रज्ञावाले महर्षियों ने समाधि दशा में किया है अतः वे भी वेदत्वात्, वेदान्तोपदेशकत्वात् विश्वसनीय हैं।

प्रश्न-मूलम्- समाधानं किम्?

मूलार्थ=समाधानम्= समाधान, किम्=क्या है।

उत्तर-मूलम्= चित्तैकाग्रता।

मूलार्थ=चित्त की एकाग्रता।

चित्त की एकाग्रता का होना ही समाधान है। विषयी व्यक्ति का चित्त तो विषयभोग में अपनी रुचि के कारण एकाग्र सा हो ही जाता है। चल-चित्र प्रिय चित्त दूरदर्शन से चिपक ही जाता है। इतना डूब जाता है कि उसे खुद का भी होश नहीं रहता। नकली कल्पित फिल्म को देखकर रोता हँसता, खिन्न व प्रसन्न हो उठता है। यह तभी होता है जब दर्शक एकाग्र होकर उसमें तादात्म्य बना लेता है, अन्यथा कुछ भी असर नहीं होगा। प्रकृति प्रेमी व्यक्ति पर्वत-झरनें-नदियाँ-पक्षियों को देखकर खो जाते हैं। धनासक्त धनार्जन में ही एकाग्र हो जाता है, उसे बस पैसा चाहिए, कैसा पैसा? चाहे जैसा, बस पैसा।

कामांध व्यक्ति नारी में खो जाता है किन्तु नाशवान् क्षणभंगुर विषयों में लगना विनाश के पथ पर कदम बढ़ाने जैसा है। इसका लाभ कल्पना में भी सम्भव नहीं है। वासना-रस में डूबी एकाग्रता तो समस्याओं की खाई में डाल देती है, समाधान नहीं दे सकती। यही एकाग्रता, जब ब्रह्म-विषयक हो जाती है, तब सब संशय मिट जाते हैं, अज्ञानकृत तिमिर छँट जाता है, भ्रम के बादल हट जाते हैं; उपासना रस में सराबोर ये एकाग्रता जब गुरु-वचनों एवं वेदान्त-वाक्यों को समझकर उसका स्वाद अनुभव में पाती है तथा मन अनित्य-असत्-दुःखमूलक वस्तुओं से हटकर नित्य-सत्-आनन्दमूलक तत्त्व में लीन होता है, स्थिर होता है तब होता है समाधान।

प्रश्न-मूलम्- मुमुक्षत्वं किम्?

मूलार्थ=मुमुक्षत्वम्=मुक्ति का अभिलाषी होने की भावना, किम्=क्या है?

उत्तर-मूलम्= मोक्षो मे भूयाद् इति इच्छा।

मूलार्थ=मोक्षः=मोक्ष, मे=मेरा, भूयात्=होवे, इति=ये, इच्छा=इच्छा ही मुमुक्षा है।

पराधीनता स्वप्न में भी सुख नहीं दे सकती। (पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं-मानस, बालकाण्ड) मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी-लता-वृक्ष तक भी स्वातन्त्र्य के उपासक होते हैं, इन्हें भी परतन्त्रता अच्छी नहीं लगती। जैसे डूबता हुआ व्यक्ति प्राण-रक्षार्थ विकल होकर हाथ-पैर मारने लगे, सिर के बालों में लगी आग को बुझाने के लिए तड़पता व्यक्ति जैसे जल को खोजे या अन्य प्रयास करे, ठीक उसी प्रकार जगत् जञ्जालों से ग्रस्त, स्वार्थ पर आधारित सम्बन्धों की जञ्जीरों में जकड़ा हुआ जीव जब छटपटाने लगे, उससे मुक्ति चाहने लगे, तब सर्वप्रथम वह मनुष्यत्व को पाने के लिए विचार करे। जब वह मनुष्यत्व से अलंकृत होगा तब मुमुक्षा जागेगी। यह मोक्ष की चाहत भी किन्हीं महापुरुष की शरण में आने से पूर्ण हो सकती है।

दुर्लभं त्रयमेवैतत् देवानुग्रह हेतुकम्।

मनुष्यत्वं मुमुक्षत्वं महापुरुषसंश्रयः।।

इस प्रकार संतकृपा, गुरुकृपा, शास्त्रकृपा, अनन्तकृपा से भी बढ़कर है-आत्म-कृपा। अपनी कृपा अपने ऊपर कर लो। (अब लौं नसानी, अब न नसैहों- विनय-पत्रिका-पद 105) अब तक जीवन नष्ट होता रहा, अब नहीं होने दूँगा, इस प्रकार दृढ़ता-पूर्वक मोक्ष की इच्छा करें। मोक्षाकांक्षियों के लिए ही ये तत्त्वबोध, आत्मबोध, विवेकचूड़ामणि आदि ग्रंथ लिखे गए हैं। सांसारिक सुख भी चाहिए और बिना प्रयास मुक्ति भी-ऐसे वाणी के वीरों का, केवल चर्चा मात्र में लीन परन्तु आचार-विचार-व्यवहार रहित मानवों का कल्याण तो स्वयं ब्रह्मा भी नहीं कर सकता। क्योंकि जो अनजाने में भूल करे तो कोई बात नहीं, पर जो जानकर भी न माने, भूल पर भूल करता जाये उसको क्षमा कैसे होगी।

अविनाशी की चाहत है और नाशवान् वस्तुओं के पीछे लगे हैं तो कभी अविनाशी नहीं मिल सकता। साथ ही विनाशोन्मुख संसार आज तक न कभी किसी का हुआ है और कभी होगा भी नहीं।

मूलम्-एतत् साधनचतुष्टयम्। ततस्तत्त्वविवेकस्याधिकारिणो भवन्ति।

मूलार्थ=एतत् = यह, साधनचतुष्टयम् (अस्ति) साधनचतुष्टय है। ततः = वहाँ से (इन चारों साधनों के सम्पन्न होने पर ही) तत्त्वविवेकस्य = तत्त्वविवेक के लिए जिज्ञासु प्राणी, अधिकारिणः = अधिकारी, भवन्ति = होते हैं।

इन चारों साधनों से सम्पन्न जागरुक साधक तत्त्व-ज्ञान की पात्रता प्राप्त करके विरक्त हो या गृहस्थ अर्थात् वन में रहे या भवन में, इन्द्रियों को उनके विषयों के दलदल से दूर रखकर आत्मचिंतन करे तो उसे शीघ्र अपने लक्ष्य की प्राप्ति सहजतया हो जाती है।

२. तत्त्वविवेक (आत्मज्ञान)

प्रश्न-मूलम्= तत्त्वविवेकः कः ?

मूलार्थ=तत्त्वविवेकः= तत्त्वविवेक, कः = क्या है?

उत्तर-मूलम्=आत्मा सत्यः तदन्यत् सर्वं मिथ्येति (ज्ञानमेव तत्त्वविवेकः अस्ति-पाठभेदः)

मूलार्थ=आत्मा=आत्मा, परमात्वतत्त्व, जीव, चेतनतत्त्व, सत्यः=सत्य है, तत् =उससे, अन्यत्=दूसरा, भिन्न, सर्वं=सब कुछ, मिथ्या=झूठ है, कल्पित है, इति=इस प्रकार का, ज्ञानम्=ज्ञान, एव=ही, तत्त्वविवेकः =तत्त्वविवेक, अस्ति= है।

विवेक को नित्य-अनित्य शब्दों से कहकर अब और स्पष्ट करते हुए कहते हैं सत्य और मिथ्या का विवेक ही तत्त्वतः विवेक है। इन दोनों बातों-नित्य-अनित्य और सत्य-मिथ्या में अंतर क्या है?

विचार करने से जाना जा सकता है कि जगत् अनित्य है, मिथ्या है 'ब्रह्म

सत्यं जगन्मिथ्या'। अद्वैतवाद के अतिरिक्त किसी भी मत में जगत् को मिथ्या न कहकर अनित्य कहा है। अनित्य अर्थात् जो सदा न रहे। अनित्य से तात्पर्य है इसकी सत्ता को कदाचित् स्वीकार्य बनाना किन्तु मिथ्या का अर्थ है जगत् है ही नहीं। जैसे-रस्सी के सर्प न होने पर भी भ्रान्तिवश, अज्ञानवश उसमें सर्प दिखता है, भयादि भाव उत्पन्न होते हैं। जैसे भ्रमवश सीपी में चाँदी व मरुभूमि में जल की भ्रान्ति होती है। स्वप्न का जगत् नहीं है पर वह भी राग-द्वेष का उत्पादक होता ही है। ठीक वैसे ही यह संसार तीनों कालों में नहीं है अज्ञानवश, भ्रमवश ब्रह्म में ही उसकी प्रतीति हो रही है। बोध होते ही भ्रम मिट जाता है जगत् न रहकर वहाँ ब्रह्म की सत्ता ही शेष रहती है।

आत्मैवेदं जगत्सर्वमात्मनोऽन्यन्न विद्यते।

मृदो यद्वद्धटादीनि स्वात्मानं सर्वमीक्षते।।

-आत्मबोध /48/

अर्थात् जैसे मिट्टी से बने हुए घट आदि मिट्टी से भिन्न नहीं है वैसे ही यह सम्पूर्ण जगत् आत्मा ही है इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

प्रश्न-मूलम्= आत्मा कः?

मूलार्थ=आत्मा= आत्मा, कः= क्या है?

उत्तर-मूलम्=स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरात् व्यतिरिक्तः पञ्चकोशातीतः सन् अवस्थात्रयसाक्षी सच्चिदानन्दस्वरूपः सन् यः तिष्ठति स आत्मा।

मूलार्थ=स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरात् = स्थूल, सूक्ष्म, कारणशरीरों से व्यतिरिक्तः=भिन्न, पञ्चकोशातीतः = पञ्चकोशों से परे, सन्= होते हुए, अवस्थात्रय = जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति रूपी तीनों अवस्थाओं के, साक्षी= साक्षी, गवाह, सच्चिदानन्दस्वरुपः =सच्चिदानन्दस्वरुप, सन् = होते हुए यः= जो, तिष्ठति= स्थित है, सः= वह, आत्मा= आत्मा है।

व्याख्या= आत्मतत्त्व को जानने के लिए निषेध-वृत्ति का आश्रय लिया जाता है क्योंकि आत्मतत्त्व इन्द्रियों की सामर्थ्य से परे है तब विधिमुखेन

उसका बोध कथमपि सम्भव नहीं है। इसके लिए बहुधा सुचिन्तकों ने साधारणतया तीन पक्ष लिए हैं-

1. शरीरत्रय से भिन्न
2. पञ्चकोशों से परे
3. अवस्थात्रय का साक्षी

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में आत्मा का लक्षण सच्चिदानन्दस्वरूपत्व नहीं घटता क्योंकि ये तीनों ही शरीर नाशवान विकारी हैं, जबकि आत्मतत्त्व तो अविनाशी व अविकारी है अतः इन तीनों शरीरों से सर्वथा भिन्न है। आत्मा को जानने से पहले पूरी तरह स्थूल शरीर को जानना, फिर सूक्ष्म शरीर को जानना, तदनन्तर कारण शरीर को जानना ही कठिन है।

पञ्चकोश (अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय) भी इन्द्रियादि के संघात से रचित हैं अतः ये भी आत्मा नहीं हो सकते। आत्मा तो इनसे भी परे है।

जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति-इन तीनों अवस्थाओं का जो साक्षी है, चैतन्यरुप से, आनन्दसम्पन्न हो तीनों कालों में रहने वाला तत्त्व ही आत्मा है।

अब शरीरत्रय को पृथक्-पृथक् स्पष्ट करके बताते हैं-

शरीरत्रय (स्थूल-सूक्ष्म-कारणशरीरम्)

स्थूलशरीरम्

प्रश्न-मूलम्-स्थूलशरीरं किम्?

मूलार्थ=स्थूल शरीर क्या है?

उत्तर-मूलम्-पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतैः कृतं सत्कर्मजन्यं सुखदुःखादिभोगायतनं शरीरं, अस्ति जायते वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यतीति षड्विकारवत् एतत्स्थूलशरीरम्।

मूलार्थ=पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतैः-पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतों द्वारा, कृतं=रचित, सत्कर्मजन्यं = सत्कर्मों से उत्पन्न, सुखदुःखादिभोगायतनम् = सुख-दुःखादि भोगों को भोगने का घर (आश्रय), शरीरं=शरीर, अस्ति= है, जायते=उत्पन्न होता है, वर्धते = बढ़ता है, विपरिणमते= परिवर्तित होता है, अपक्षीयते = क्षीण होता है, विनश्यति = नष्ट होता है, इति =इस प्रकार, षड्विकारवत् = छः विकारों वाला, एतत् =यह, स्थूलशरीरं =स्थूलशरीर है।

व्याख्या-संसार में जितने भी शरीर हैं वे सब मिलित पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश, इन पाँचों महाभूतों से मिलकर ही बने हैं। कैसे पता लगे ये करते क्या हैं? तब लक्षणों से ज्ञात होता है-

पृथ्वीतत्त्व-शरीर का स्थूल कृश होना; शरीर से गन्ध आना ही पृथ्वी तत्त्व की स्थिति में प्रमाण है क्योंकि जहाँ पृथ्वी होगी वहीं गन्ध होगी, जहाँ पृथ्वी नहीं वहाँ गन्ध नहीं, यत्र यत्र गन्धवत्वं तत्र तत्र पृथ्वीत्वं। मानस में भी 'बिनु महि गंध कि पावइ कोई'-उत्तरकाण्ड 80/4 उत्तरार्द्ध

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां-गीता 7/9

जलतत्त्व-अश्रु-रक्त-पसीना-मूत्रादि जल तत्त्व की सत्ता के द्योतक हैं।

तेजस्तत्त्व-रूप, नेत्रज्योति, देहकान्ति, देह-तापादि रूप में द्योतित होता है।

वायु तत्त्व-दौड़ना, चलना, कूदना, श्वास लेना, स्पर्श, क्रियाशीलता आदि वायु तत्त्व के द्योतक हैं।

आकाश तत्त्व-शब्द रुप में तथा स्थान घेरने में आकाश तत्त्व है (शब्दगुणकं आकाशं)

सत्कर्मों के फलस्वरूप ही ये स्थूल शरीर (मानवतन) प्राप्त हुआ है वैसे भी मानव तन न हो तो शास्त्रों की सत्संग-आश्रम-वर्ण-धर्म-देवालय-ब्रह्म की सत्ता को कौन प्रमाणित-सिद्ध करेगा?

(कर्मयोनि) मानवतन ही पुण्ययोनि है, पुण्य का फल है। (भोगयोनि)

मानवेतर सभी शरीर पाप का फल हैं।

इसी मानव शरीर को बनाकर ब्रह्मा जी का चेहरा खिल उठा, मन-मयूर नृत्य करने लगा। वे कृतकृत्यता का अनुभव करने लगे।

'ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमापदेवः'

ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार की बुद्धि वाले नर को बनाकर ब्रह्मा जी हर्षित हो गए।

कितनी भी निन्दा करो इस नर-तन की, पर इसके बिना कुछ नहीं है। निन्दा तो इसलिए है-जन्मान्तरीय वासना के अभ्यास से ये जीव इस अमूल्य अवसर को भोग में लिप्त हो व्यर्थ न गँवा दे, बस इसीलिए निन्दा है। इस क्षणभंगुर तन से महत् को प्राप्त कर लें।

सुखदुःखादि के भोग का ये आश्रय है। स्थूल शरीर में रहकर ही ये सुख-दुःख भोगे जा सकते हैं। प्रेतादिक भी किसी के स्थूलशरीर से ही भूख-प्यास-वासना मिटाते हैं।

निरन्तर परिवर्तनशील ये शरीर छः स्थितियों का सामना करता हुआ सतत् विनाश की ओर जा रहा है।

अस्तु, इस स्थूल शरीर में आत्मा का एक भी लक्षण नहीं घटता-ये विनाशी होने से सत् नहीं है; अचेतन महाभूतों से रचित होने से ये चेतन नहीं; (कर्म जड़ है, जड़कर्मों का फल भी जड़ हुआ। अतः कर्मफल से उत्पन्न होने से ये जड़ है।)

सुख-दुःख भोगने का घर है, निरन्तर षड्विकारों यथा उत्पत्ति, वृद्धि, बाल्यावस्था, यौवन, जरा, मृत्यु से ग्रस्त है अतः आनन्द रहित है।

सूक्ष्म शरीरम्

प्रश्न-मूलम्=सूक्ष्मशरीरं किम्?

मूलार्थ=सूक्ष्म शरीर किसे कहते हैं?

उत्तर-मूलम्=अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतैः कृतं सत्कर्मजन्यं सुखदुःखादि भोगसाधनं, पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, पंचप्राणादयः मनश्चैकं बुद्धिश्चैका एवं सप्तदशकलाभिः सह यत्तिष्ठति तत्सूक्ष्मशरीरम्।

मूलार्थ=अपञ्चीकृतपंचमहाभूतैः =अपंचीकृत पंचमहाभूतों से, कृतं = विरचित, सत्कर्मजन्यं = सत्कर्मों द्वारा समुत्पन्न, सुखदुःखादि-भोगसाधनम्=सुख-दुःखादि भोगों का साधन, पंचज्ञानेन्द्रियाणि= पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पंचकर्मेन्द्रियाणि =पाँच कर्मेन्द्रियों, पंचप्राणादयः=पाँच प्राणापानादि वायु, मनःच एकं =और एक मन, बुद्धिश्चैका = और एक बुद्धि, एवं = इस प्रकार, सप्तदशकलाभिः सह=सत्रह कलाओं के साथ, यत् =जो, तिष्ठति =रहता है, तत्= वह, सूक्ष्मशरीरं = सूक्ष्मशरीर है।

व्याख्या-अपंचीकृत अर्थात् शुद्ध पाँचों महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश) से निर्मित है अतः सूक्ष्म है। स्थूल शरीर घर है तो सूक्ष्म शरीर उसमें रहने वाला है। स्थूल शरीर की भाँति सूक्ष्म शरीर भी सत्कर्मों से उत्पन्न होता है। स्थूल शरीर सुख-दुःख भोगने का घर है जबकि सूक्ष्म शरीर सुख-दुःख भोगने का साधन है। सूक्ष्म शरीर रुपी साधन द्वारा स्थूल शरीर रुपी घर में बैठकर जीवात्मा सुख-दुःख का अनुभव करता है। मृत्यु के बाद फल भोगने के लिए जीवात्मा के साथ लगा रहने वाला सूक्ष्म शरीर है।

सूक्ष्म शरीर एक समुदाय है जिसमें 5 ज्ञानेन्द्रियाँ+5 कर्मेन्द्रियाँ+5 प्राण+1 मन+1 बुद्धि=इस प्रकार सत्रह तत्त्व समाविष्ट हैं।

प्रश्न= कानि पंच ज्ञानेन्द्रियाणि?

मूलार्थ=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ कौन-सी हैं?

उत्तर-मूलम् = श्रोत्रं त्वक् चक्षुः रसनाघ्राणम् इति पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि।

मूलार्थ=श्रोत्रं = कान, त्वक् = त्वचा, चक्षुः=नेत्र, रसना = जिह्वा, घ्राणं=नासिका, इति =ये, पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि =पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं।

जैसा कि 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्द से ही स्पष्ट है ज्ञान+ इन्द्रिय = ज्ञान कराने

वाली इन्द्रियाँ। कर्ण आदि उपकरणों द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है अतः इन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं। लौकिक स्तर पर सामान्यतः संसार में जो भी कुछ जाना जाता है वह इन ज्ञानेन्द्रियों से ही जाना जाता है। इनके अतिरिक्त ज्ञान होना सम्भव नहीं। अब कोई शंका कर सकते हैं कि जिन आँख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा को आप सूक्ष्म शरीर का अंग बताते हैं, वे सब तो स्थूल शरीर में हैं। तब समाधान करते हैं- स्थूल शरीर में आँख-नाक-कान आदि जो दिखने वाले तत्-तत् नामों से प्रसिद्ध अंग हैं वे तो इन इन्द्रियों के आश्रय हैं, आवास हैं, गोलक हैं। जैसे आँखों का, कान का, नाक का, बाह्यरुप यथावत् स्वस्थ सा दिखने पर भी इनमें देखने, सुनने, सूँघने की क्षमता नहीं रहती।

रेडियो, टी.वी., मोबाईल के बाह्य स्वरुप व आन्तरिक स्वरुप में जो अंतर है वही अन्तर इन ज्ञानेन्द्रियों के स्थूल शरीरस्थ बाह्य अंगों एवं सूक्ष्मशरीरवर्ती, ज्ञानेन्द्रियों में है। कान में लगने वाली मशीन, आँख में लगने वाला लैंस, इसमें प्रमाण हैं।

इन सभी इन्द्रियों के पृथक्-पृथक् देवता भी हैं। भारतीय दर्शन आस्तिक व आध्यात्मिक दर्शन है। यहाँ कणमात्र भी ईश्वरीय सत्ता से शून्य नहीं है। यहाँ बहती नदी, चलती हवा, खड़े वृक्ष व पर्वत, छाए हुए गगनस्थ बादल, लबालब भरे हुए सागर, पशु-पक्षी, नर में देवत्व की भावना की जाती है।

प्रश्न = इन्द्रियाणां देवताः काः?

मूलार्थ=इन्द्रियों के देवता कौन-कौन हैं?

उत्तर-मूलम्=श्रोत्रस्य दिग्देवता = कानों का देवता दिशाएं हैं।

त्वचो वायुः = त्वचा का स्वामी वायु है।

चक्षुषः सूर्यः = आँखों का देवता सूर्य है।

रसनाया वरुणः = जिह्वा का देवता वरुण है।

घ्राणस्य अश्विनौ = नासिका के स्वामी अश्विनी कुमार हैं।

ये ज्ञानेन्द्रियों के देवता है।

प्रत्येक शरीर के तत्-तत् अवयवों पर अदृष्ट सत्ता द्वारा निर्धारित देवता निवास करते हैं। पर ध्यान रहे मानवीय दृष्टिकोण से देवों की उपस्थिति पर शंका न करें। ये देवगण व्यष्टिरुप से प्रतिशरीर में तथा समष्टिरुप से स्वकर्त्तव्य का पालन करते हुए सृष्टि-प्रक्रिया का संचालन करते हैं। यथा व्यष्टिरुप से सूर्य नेत्रों में एक अंश से रहकर प्रकाशक का कार्य करता है, वही समष्टि रुप से समग्र सूर्य समस्त लोक को प्रकाशित करता है। शेष का समाधान इसी प्रकार विचार कर स्वयं कर लें।

प्रश्न = इन्द्रियाणां विषयाः के?

मूलार्थ=इन्द्रियों के विषय क्या है?

उत्तर-मूलम्= श्रोत्रस्य विषयः शब्दग्रहणम् = कानों का विषय शब्द ग्रहण करना है। त्वचो विषयः स्पर्शग्रहणम् = त्वचा का विषय स्पर्श का ग्रहण है। चक्षुषो विषयः रुपग्रहणम् = नेत्रों से रुप का ज्ञान होता है। रसनायाः विषयः रसग्रहणम् इति=जिह्वा से रसग्रहण होता है। घ्राणस्य विषयः गंध ग्रहणम् इति = नासिका का विषय गन्ध-ग्रहण है।

ऐसा अनुशासन परमात्मा की सृष्टि में है, कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता, अनधिकार चेष्टा नहीं कर सकता। शब्द का ज्ञान होगा तो केवल कान से ही होगा, आँख नाक से कथमपि नहीं हो सकता। गोरा-काला-सुन्दर-असुन्दर बताने का काम आँख ही कर सकती है। जितनी सजावट-बनावट है उसका महत्त्व तभी है जब आँख है। आँख नहीं तो सब शून्य ही तो है। मीठा-कड़वा-खट्टा-नमकीन आदि रसों का ज्ञान केवल रसना ही दे सकती है-वह भी जिह्वा का अग्रभाग ही। हम बचपन में कभी सुनते थे मिर्च खाना है तो जीभ न लगाओ, निगल जाओ तो चरपरी नहीं लगेगी। कड़वी दवा लेनी होती थी तो जिह्वा की जड़ में रखकर झट पानी से निगल जाते थे पर चंचल जीभ ऐसी है ये वहाँ जरुर पहुँचती है। ऐसे ही नासिका के अग्र भाग में सूँघने की शक्ति है। आँखों के अन्दर जो श्वेत पर्दा है उसमें जो काला तारा है उसमें भी एक बिन्दु है उसका अग्रभाग ही देखने का काम करता है, सम्पूर्ण आँख

तो उसका आसन है।

महाभूत	तन्मात्रा	इन्द्रिय	देवता	विषय
पृथ्वी	गन्धतन्मात्रा	नासिका	अश्विनी कुमार	गन्धग्रहण
जल	रसतन्मात्रा	जिह्वा	वरुण	रसग्रहण
तेज	रुप तन्मात्रा	नेत्र	सूर्य	रुपग्रहण
वायु	स्पर्शतन्मात्रा	त्वचा	वायु	स्पर्शग्रहण
आकाश	शब्दतन्मात्रा	कान	दिशाएँ	शब्दग्रहण

प्रश्न = कर्मेन्द्रियाणि कानि?

मूलार्थ=कर्मेन्द्रियाँ कौन सी है?

उत्तर-मूलम् = वाक्पाणिपादपायूपस्थानि इति पंचकर्मेन्द्रियाणि।

मूलार्थ=वाक्-वाणी, पाणि = हाथ, पाद =पैर, पायु = मलेन्द्रिय (गुदा), उपस्थ = मूत्रेन्द्रिय, इति = ये, पञ्च = पाँच, कर्मेन्द्रियाणि सन्ति = कर्मेन्द्रियाँ हैं।

जैसा कि 'कर्मेन्द्रिय' शब्द से ही स्पष्ट है जिन इन्द्रियों द्वारा कार्य सम्पादन हो वे कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं। शंका यहाँ तो और भी बलवती तथा तर्कसम्मत है- हाथ, पैर, वाणी आदि तो स्पष्टरुप से स्थूल शरीर का ही अंग हैं तब इन्हें सूक्ष्म शरीर क्यों कहा जा रहा है? देखने में आता है कि-हाथ से लेने-देने का काम स्थूल शरीर द्वारा हो रहा है; किन्तु ऐसा नहीं है। इस हाथ के अंदर अदृष्ट हस्तेन्द्रिय है-यदि वो कार्य करना बंद कर दे तब ये दिखने वाला सुन्दर व बलिष्ठ हाथ एकदम शक्तिहीन हो निष्क्रिय हो जायेगा। पैर ठीक दिख रहा है, पर चला नहीं जा रहा। वाणी ठीक है, पर बोला नहीं जा रहा। समाधान यह है-स्थूलशरीर में दिखने वाले ये अंग इन इन्द्रियों के आधार हैं। किं वा आसन हैं इनमें रहकर ही ये इन्द्रियाँ अपना निर्धारित कार्य करती हैं।

प्रश्न = कर्मेन्द्रियाणां काः देवताः ?

मूलार्थ=कर्मेन्द्रियों के देवता कौन है ?

उत्तर-मूलम् = वाचो देवता वह्निः = वाणी के देवता अग्नि हैं।

हस्तयोरिन्द्रः = हाथों के देवता इन्द्र हैं।

पादयोर्विष्णुः = पैरों के देवता विष्णु हैं।

पायोर्मृत्युः = मलेन्द्रिय के देव मृत्यु है।

उपस्थस्य प्रजापतिः = मूत्रेन्द्रिय के देव प्रजापति हैं।

इति कर्मेन्द्रिय देवताः = ये कर्मेन्द्रियों के देवता हैं।

इन्द्री द्वारा झरोखा नाना। जहँ तहँ बैठे सुर करि थाना।।

मानस/उत्तर०/118/11

देवता साक्षीभाव से व्यष्टिरुप में इन्द्रियों के स्वामी बनकर इनके साथ ही रहते हैं। इनसे शक्ति प्राप्त कर कर्म करने को उद्यत सूक्ष्म कर्मेन्द्रिय जब बढ़ती है तब स्वतः स्थूलशरीरगत इसका आधार सक्रिय हो उठता है।

वाणी का स्वामी अग्नि है-जैसे अग्नि प्रकाशक है, पाचक, दाहक है-ठीक वैसे ही वाणी भी प्रकाशक, दाहक व पाचक होती है- वाणी जब शास्त्रोपदेश करे, पर हित में, भगवन्नाम में प्रवृत्त हो तब उसे प्रकाशक जानना चाहिए। वाणी से ही समस्त अज्ञानान्धकार का विनाश हुआ है अतः दाहक भी हुई। ज्ञान को पुनः वर्णित करने से ये पचता है। वाणी जब किसी के हित के लिए प्रयुक्त हो तब प्रकाशक। जब किसी की निन्दा और अहित के लिए प्रयुक्त हो तब दाहक। सत्य-रक्षा में प्रयुक्त वाणी प्रकाशक; मिथ्या पाप में प्रयुक्त वाणी दाहक।

हाथ ही हैं जो व्यक्ति को इन्द्र बना सकते हैं। इन्द्र =समस्त ऐश्वर्य का स्वामी। सौ यज्ञ करके ही व्यक्ति इन्द्र बनता है। हाथों बिना यज्ञ होगा नहीं। संसार के निर्माण में हाथ अद्वितीय हैं। वेद में कहा गया है-अयं मे हस्तो

भगवान्- ये मेरे हाथ भगवान हैं। उपस्थ के देवता प्रजापति अर्थात् सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया प्रजनन जैसे प्रजापति से है वैसे ही उपस्थ से है।

प्रश्न = कर्मेन्द्रियाणां के विषयाः?

मूलार्थ=कर्मेन्द्रियों के विषय कौन-कौन हैं?

उत्तर-मूलम् = वाचोः विषयः भाषणम् = वाणी का विषय भाषण है।

पाण्योः विषयः वस्तुग्रहणम् = हाथों का विषय वस्तु आदान-प्रदान है।

पादयोः विषयः गमनम् = पैरों का कार्य है गमन।

पायोर्विषयः मलत्यागः = गुदा का विषय मल-त्याग है।

उपस्थस्य विषयः आनन्दः = उपस्थ अर्थात् जननेन्द्रिय का विषय आनन्द-प्राप्ति है।

कर्मेन्द्रिय	**देवता**	**विषय**	**महाभूत**
वाक्	अग्नि	भाषण	आकाश
पाणि	इन्द्र	आदान-प्रदान	वायु
पाद	विष्णु	गमन	अग्नि
पायु	यम (मृत्यु)	मल-त्याग	पृथ्वी
उपस्थ	प्रजापति	आनन्द-प्राप्ति	जल

शेष तो स्पष्ट ही है। किन्तु उपस्थ का विषय विचारणीय है। कभी-कभी गहराई में उतरकर सोचते हैं कि ऐसा क्या इस शरीर में भगवान ने भर दिया जो गहरी साधना में लीन होने पर भी विश्वामित्र, सौभरि प्रभृति असंख्य महामनीषियों से लेकर देवगण, पशु-पक्षी, आपामार जीव तक भोग के लिए सहसा सब कुछ त्याग देता है, कुल, प्रतिष्ठा, सुख, यश, सम्पत्ति, गाँव, देश। समाधान प्राप्त हुआ-आनन्द क्या है? इसका प्राथमिक बोध हो जाये। प्राथमिक आनन्द (विषयानन्द) स्वशरीरस्थ भोगेन्द्रियों से प्राप्त होता है। मानव

में पशुता का अंश जब तक रहेगा, तब तक यही प्राथमिक आनन्द उसे तृप्ति देता रहेगा। इसी के लिए वह तड़पेगा। शास्त्र प्रमाण है-

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।

परिणामे विषमिव..................................।। गीता 18/38

अपनी चेतना को विकसित कर जब ये मानव ब्रह्मानन्द-प्राप्ति की आकांक्षा में संयमित हो, शान्त-दान्त हो, आगे बढ़ता है तब उसे अनन्त, अक्षय, अपरिमित आनन्द प्राप्त होता है। इन्द्रिय-जन्य आनन्द तो क्षणिक, विषाद-मूलक तथा पश्चात्ताप को उत्पन्न करता है किन्तु जीवात्मा-परमात्मा, भक्त-भगवान के पारस्परिक समभाव से प्राप्त ब्रह्मानन्द तो आनन्द सिन्धु में डूबना ही है। अवर्णित, अलौकिक मस्ती की प्राप्ति ही है।

अधिकांशतया प्राणी प्राथमिक आनन्द को ही सब कुछ माने रहते हैं। पहली सीढ़ी को ही मंजिल मानने वाला कभी लक्ष्य नहीं पा सकता- इसका तात्पर्य तो था अरे भाई! इस इन्द्रिय-जन्य आनन्द का इतना मधुर स्वाद है तब एक बार ब्रह्मानन्द को भी तो चखकर देख, आगे बढ़। ये विषयानंद तो पशुओं को भी प्राप्त ही है।

कारण-शरीरम्

प्रश्न-मूलम् = कारणशरीरं किम् अस्ति?

मूलार्थ=कारण शरीर क्या है?

उत्तर-मूलम् = अनिर्वाच्यानाद्यविद्या रुपं शरीरद्वयस्य कारणमात्रं सत्स्वरुपाऽज्ञानं निर्विकल्पकरुपं यदस्ति तत्कारणशरीरम्।

मूलार्थ=अनिर्वाच्य = वाणी की सीमा से परे, अनादि अविद्यारुपं=आदि रहित अविद्यारुप, शरीरद्वयस्य = स्थूल तथा सूक्ष्म इन दोनों शरीरों का, कारणमात्रं = कारणमात्र, सत्स्वरुपाज्ञानं = सत्स्वरुप का अज्ञान, निर्विकल्पकरुपं = विकल्प रहित रुपवाला, यत् = जो, अस्ति =है, तत् =वह, कारण शरीरम् = कारणशरीर है।

कारण शरीर बताने चले-तो पहेली सी बुझाने लगे। स्थूलशरीर की उत्पत्ति जानने में कठिनाई नहीं हुई क्योंकि वह दिखता है। मान लिया था। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म होने से दिखता नहीं, परन्तु सूक्ष्मशरीर के कार्यों को देख उसे समझना भी संभव हो गया। परन्तु ये कारण शरीर क्या बला है? क्या उपयोगिता है इसकी? क्या आवश्यकता है इसकी? न माने तो क्या हानि होगी?

कारण शरीर क्या है? = **अनिर्वाच्य** है जिसे **अस्ति** रुप से तथा **नास्ति** रुप से नहीं कहा जा सके उसे अनिर्वाच्य कहते हैं; जिसे न सत् कह सकते हैं क्योंकि सत् तो केवल परमात्मा है और न असत् कह सकते हैं क्योंकि यह स्थूल सूक्ष्म शरीरों का कारण है इन शरीरों का जन्मदाता है इसीलिए असत् नहीं कहा जा सकता।

अनादि-अविद्या रुप है- ये मोहमयी अविद्या कब से है इसका पता नहीं इसीलिए अनादि तो कहा पर अनन्त नहीं कहा क्योंकि इसका अन्त होता है। ये कारण-शरीर भी कब से चला आ रहा है ये पता नहीं, पर है अविद्या रुप ही। इसका भी अन्त सम्भव है।

ये दो शरीरों का कारण मात्र है-उत्पादक है। कारण शरीर के कार्य हैं- स्थूल और सूक्ष्म शरीर। इन्हें ऐसे भी समझा जा सकता है-

वृक्ष	बीज	बीज की अंकुरण क्षमता
स्थूल शरीर	सूक्ष्म शरीर	कारण शरीर

वृक्ष स्पष्टतया दिखता है। बीज भी दिखता ही है किन्तु बीज में अंकुरण क्षमता है या नहीं, यह नहीं दिखता। अंकुरण क्षमता है या नहीं इसका ज्ञान तो उसके कार्य-रुप में परिणत होने से ही होगा।

सत्स्वरुपाज्ञानं- सत्= आत्मा, (परमात्मा) ब्रह्म। आत्मा के स्वरुप का अज्ञान अर्थात् ये कारण शरीर अविद्या रुप है सत्स्वरुप का ज्ञान होते ही ये नहीं रहेगा। यह तभी तक है जब तक सत्य का साक्षात्कार नहीं है।

निर्विकल्पकरुपं=अविद्या=मोहनिद्रा = या नशा। जाग्रत स्वप्न में विकल्प

में पशुता का अंश जब तक रहेगा, तब तक यही प्राथमिक आनन्द उसे तृप्ति देता रहेगा। इसी के लिए वह तड़पेगा। शास्त्र प्रमाण है–

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।

परिणामे विषमिव................................।। गीता 18/38

अपनी चेतना को विकसित कर जब ये मानव ब्रह्मानन्द–प्राप्ति की आकांक्षा में संयमित हो, शान्त–दान्त हो, आगे बढ़ता है तब उसे अनन्त, अक्षय, अपरिमित आनन्द प्राप्त होता है। इन्द्रिय–जन्य आनन्द तो क्षणिक, विषाद–मूलक तथा पश्चात्ताप को उत्पन्न करता है किन्तु जीवात्मा–परमात्मा, भक्त–भगवान के पारस्परिक समभाव से प्राप्त ब्रह्मानन्द तो आनन्द सिन्धु में डूबना ही है। अवर्णित, अलौकिक मस्ती की प्राप्ति ही है।

अधिकांशतया प्राणी प्राथमिक आनन्द को ही सब कुछ माने रहते हैं। पहली सीढ़ी को ही मंजिल मानने वाला कभी लक्ष्य नहीं पा सकता– इसका तात्पर्य तो था अरे भाई! इस इन्द्रिय–जन्य आनन्द का इतना मधुर स्वाद है तब एक बार ब्रह्मानन्द को भी तो चखकर देख, आगे बढ़। ये विषयानंद तो पशुओं को भी प्राप्त ही है।

कारण-शरीरम्

प्रश्न–मूलम् = कारणशरीरं किम् अस्ति?

मूलार्थ=कारण शरीर क्या है?

उत्तर–मूलम् = अनिर्वाच्यानाद्यविद्या रुपं शरीरद्वयस्य कारणमात्रं सत्स्वरुपाऽज्ञानं निर्विकल्पकरुपं यदस्ति तत्कारणशरीरम्।

मूलार्थ=अनिर्वाच्य = वाणी की सीमा से परे, अनादि अविद्यारुपं=आदि रहित अविद्यारुप, शरीरद्वयस्य = स्थूल तथा सूक्ष्म इन दोनों शरीरों का, कारणमात्रं = कारणमात्र, सत्स्वरुपाज्ञानं = सत्स्वरुप का अज्ञान, निर्विकल्पकरुपं = विकल्प रहित रुपवाला, यत् = जो, अस्ति =है, तत् =वह, कारण शरीरम् = कारणशरीर है।

कारण शरीर बताने चले–तो पहेली सी बुझाने लगे। स्थूलशरीर की उत्पत्ति जानने में कठिनाई नहीं हुई क्योंकि वह दिखता है। मान लिया था। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म होने से दिखता नहीं, परन्तु सूक्ष्मशरीर के कार्यों को देख उसे समझना भी संभव हो गया। परन्तु ये कारण शरीर क्या बला है? क्या उपयोगिता है इसकी? क्या आवश्यकता है इसकी? न माने तो क्या हानि होगी?

कारण शरीर क्या है? = **अनिर्वाच्य** है जिसे **अस्ति** रुप से तथा **नास्ति** रुप से नहीं कहा जा सके उसे अनिर्वाच्य कहते हैं; जिसे न सत् कह सकते हैं क्योंकि सत् तो केवल परमात्मा है और न असत् कह सकते हैं क्योंकि यह स्थूल सूक्ष्म शरीरों का कारण है इन शरीरों का जन्मदाता है इसीलिए असत् नहीं कहा जा सकता।

अनादि–अविद्या रुप है– ये मोहमयी अविद्या कब से है इसका पता नहीं इसीलिए अनादि तो कहा पर अनन्त नहीं कहा क्योंकि इसका अन्त होता है। ये कारण–शरीर भी कब से चला आ रहा है ये पता नहीं, पर है अविद्या रुप ही। इसका भी अन्त सम्भव है।

ये दो शरीरों का कारण मात्र है–उत्पादक है। कारण शरीर के कार्य हैं– स्थूल और सूक्ष्म शरीर। इन्हें ऐसे भी समझा जा सकता है–

वृक्ष	बीज	बीज की अंकुरण क्षमता
स्थूल शरीर	सूक्ष्म शरीर	कारण शरीर

वृक्ष स्पष्टतया दिखता है। बीज भी दिखता ही है किन्तु बीज में अंकुरण क्षमता है या नहीं, यह नहीं दिखता। अंकुरण क्षमता है या नहीं इसका ज्ञान तो उसके कार्य–रुप में परिणत होने से ही होगा।

सत्स्वरुपाज्ञानं– सत्= आत्मा, (परमात्मा) ब्रह्म। आत्मा के स्वरुप का अज्ञान अर्थात् ये कारण शरीर अविद्या रुप है सत्स्वरुप का ज्ञान होते ही ये नहीं रहेगा। यह तभी तक है जब तक सत्य का साक्षात्कार नहीं है।

निर्विकल्पकरुपं=अविद्या=मोहनिद्रा = या नशा। जाग्रत स्वप्न में विकल्प

रहते हैं परन्तु अविद्या प्रधान निद्रावस्था में किसी भी प्रकार के द्वैत का भान नहीं रहता अतः निर्विकल्पक कहा है–कारण शरीर का विकल्प नहीं है।

यदि कारण शरीर को न मानें तो क्या हानि है? तब प्रश्न उठेगा ये स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर कहाँ से आए? क्योंकि आत्मा तो सत् है और ये स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर असत् हैं। सत् से असत् की उत्पत्ति कदापि कथमपि कुत्रापि हो ही नहीं सकती अतः स्थूल सूक्ष्म शरीर रुपी कार्य का कारण (जनक) कौन है? तब उद्भावना की। निश्चित ही कोई तो है क्योंकि कारण के बिना कार्य हो नहीं सकता– कारणं बिना कार्यं नोत्पद्यते। अतः इन दोनों के उत्पादक (कारण) के रुप में कारण शरीर को माना गया है।

यदि पुनः प्रश्न उठ जाये, भाई! ये कारण शरीर कहाँ से आया है; तब क्या करेंगे? जहाँ से कारण शरीर आया वहीं से सूक्ष्म–स्थूल को मान लें। बीच में से इस कारण शरीर का झंझट मिट जाये। कारण शरीर अनावश्यक है? तब कहते हैं– ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि स्थूल व सूक्ष्म शरीर सत्कर्मजन्य हैं, सुखादि भोग के आश्रय व साधन हैं, पंचमहाभूतों से रचित हैं परन्तु ये कारण शरीर तो अनादि अविद्या रुप है, अनिर्वाच्य है, सत्स्वरुप का अज्ञान है तथा निर्विकल्पक रुप है। वे दोनों सादि व सान्त हैं किन्तु ये अनादि सान्त है। अतः कारण शरीर तो मानना ही पड़ेगा–अन्यथा कारण बिना कार्य उत्पत्ति के कारण ही व्यभिचार माना जायेगा।

स्थूल शरीर	**सूक्ष्म शरीर**	**कारण शरीर**
दृष्ट	दृष्टादृष्ट	अदृष्ट
सादि सान्त	सादि सान्त	अनादि सान्त
(इनका आदि भी है अन्त भी है।	(आदि–अन्त वाले)	(आदि नहीं किन्तु अन्त है।
पंचीकृत पंचमहा–भूतों से बना है	अपंचीकृत पंचमहा–भूतों से बना है	अनिर्वाच्य अनादि अविद्यारुप

सत्कर्मजन्य	सत्कर्मजन्य	सत्स्वरुप का अज्ञान है
भोगायतन	भोगसाधन	स्थूल व सूक्ष्म शरीर का कारण है।
षड्विकार युक्त है	5 ज्ञानेन्द्रिय + 5 कर्मेन्द्रिय +5 प्राण +2 मन, बुद्धि इस प्रकार सप्तदश अवयव वाला है	सत्स्वरुपाज्ञान
जाग्रत् से सम्बद्ध	स्वप्न से सम्बद्ध	सुषुप्ति से सम्बद्ध
वृक्ष रुप	बीजरुप	अंकुरण शक्तिरुप

तीन अवस्थाएँ

प्रश्न-मूलम्= अवस्थात्रयं किम्?

मूलार्थ=तीन अवस्थाएँ कौन सी हैं?

उत्तर-मूलम् = जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थाः।

जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। सामान्यतया सोना व जागना ये दो स्थिति ही जानी व मानी जाती हैं। स्वप्न को लोग निद्रा का ही अंग मानते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। अब इन तीनों को पृथक्-पृथक् जानते हैं-

प्रश्न-मूलम् = जाग्रदवस्था का अस्ति?

मूलार्थ=जाग्रत् अवस्था किसे कहते हैं?

उत्तर-मूलम् = श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियैः शब्दादिविषयैश्च ज्ञायते इति यत् सा जाग्रदवस्था। स्थूल शरीराभिमानी आत्मा विश्व इत्युच्यते।

मूलार्थ=श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियैः = श्रोत्रादि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, शब्दादिविषयैश्च

= और शब्द, स्पर्श आदि विषयों से, यत् ज्ञायते इति = जो जाना जाये, सा = वह, जाग्रदवस्था= जाग्रत अवस्था है। स्थूल शरीराभिमानी = स्थूल शरीर का अभिमानी, आत्मा = आत्मा, विश्व इत्युच्यते = विश्व कहलाता है।

जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से पाँचों विषयों को ग्रहण किया जाये- कर्मेन्द्रियों से कर्म सम्पादन किया जाये, तब संसार से हमारा सम्बन्ध जुड़ा रहे तब उस अवस्था को जाग्रत जानना चाहिए। आत्मा तो शरीर नहीं है। अविद्या के कारण इस आत्मा का ज्ञान नहीं होता। मान लें आत्मा अविद्यारुप कारण शरीर से ढक जाये और सूक्ष्म व स्थूल शरीरों से एकता मान ले तब यह आत्मा त्रिविध शरीरों से सम्बद्ध होकर विश्व नाम वाला हो जाता है। फलतः इन्द्रियों से रसास्वादन करता है।

जिस अवस्था में आत्मा का सम्बन्ध तीनों शरीर से जुड़ जाये मानों वही अवस्था जाग्रत अवस्था है। तब स्थूल शरीराभिमानी आत्मा का नाम बदलकर विश्व हो जाता है। (विश्व से जुड़ते ही विश्व नाम हुआ)।

स्वप्नावस्था

प्रश्न-मूलम् = स्वप्नावस्था केति चेत्?

मूलार्थ=स्वप्नावस्था क्या है?

उत्तर-मूलम् = जाग्रदवस्थायां यद् दृष्टं यद् श्रुतं तज्जनितवासनया निद्रासमये यः प्रपञ्चः प्रतीयते सा स्वप्नावस्था। सूक्ष्मशरीराभिमानी आत्मा तेजस् इत्युच्यते।

मूलार्थ=जाग्रत अवस्थायां = जाग्रत अवस्था में, यत् दृष्टं =जो देखा गया, यद् श्रुतं =जो सुना गया, तत्जनितवासनया= उससे उत्पन्न वासना द्वारा, निद्रासमये = सोते समय, यः प्रपञ्चः =जो प्रपञ्च, प्रतीयते = प्रतीत होता है, सा स्वप्नावस्था = वही स्वप्नावस्था है, सूक्ष्मशरीराभिमानी =सूक्ष्मशरीर का अभिमानी, आत्मा =आत्मा, तेजस् इत्युच्यते =तेजस् कहा जाता है।

जाग्रत और निद्रा के बीच की अवस्था को स्वप्नावस्था कहते हैं। जब

न तो पूर्णतया जगे हैं, न पूर्णतया सोए हैं [वैसे भी जिस रात सपने अधिक देखे जाते हैं, उस रात के बाद जगने पर शरीर पूर्ण विश्रान्ति के सुख का अनुभव नहीं कर पाता क्योंकि पूर्णतया विश्राम मिला ही नहीं] स्वप्न का सृजन हमारे द्वारा ही होता है। जाग्रत में हमारे अन्तर्मन को छूने वाली घटनाएँ, चिन्तन वासना बनकर आसक्तिवश अतृप्ति का बोध कराती हैं। परिणामतः स्वप्न में वही अतृप्ति मन द्वारा कल्पित प्रपञ्च रच देती है। स्वप्न में स्थूल शरीर से आत्मा का सम्बन्ध नहीं रहता। केवल सूक्ष्म व कारण शरीर से सम्बद्ध आत्मा तेजस् कहलाता है। स्वप्न में बाह्य प्रकाश नहीं, आत्मा का प्रकाश ही होता है। स्वप्न वास्तव में अद्भुत जीवन-यात्रा है। ऐसा विलक्षण लोक है जहाँ 'बिनु पद चलइ सुनई बिनु काना। कर बिनु करम करइ विधि नाना।। आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी वक्ता बड़ जोगी।। प्यासा, प्यास और पानी; ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानी, दृष्टा, दृश्य और दर्शन सब कुछ एक ही होता है। इस एक का चमत्कार है स्वप्नलोक। जिस अवस्था में स्थूलशरीर निष्क्रिय हो जाये, मन सक्रिय रहे, जाग्रत के अनुभूत भोगों का पुनर्दर्शन हो तब स्वप्नावस्था जानो।

सुषुप्ति अवस्था

प्रश्न-मूलम् = अतः सुषुप्ति अवस्था का?

मूलार्थ=इसलिए सुषुप्ति अवस्था क्या है?

उत्तर-मूलम् = अहं किमपि न जानामि सुखेन मया निद्राऽनुभूयत इति सुषुप्त्यवस्था। कारणशरीराभिमानी आत्मा प्राज्ञ इत्युच्यते।

मूलार्थ=अहं = मैं, किमपि न जानामि = कुछ भी नहीं जानता, सुखेन = सुखपूर्वक, मया = मेरे द्वारा, निद्रा अनुभूयते इति = निद्रा का अनुभव किया गया, सुषुप्त्यवस्था = यही सुषुप्ति अवस्था है। कारण शरीराभिमानी आत्मा = कारण शरीर का अभिमानी आत्मा, प्राज्ञः इत्युच्यते = प्राज्ञ ऐसा कहलाता है।

जब स्थूल और सूक्ष्म शरीर दोनों निष्क्रिय हो जायें तब उस अवस्था को सुषुप्ति जानना चाहिए।

निद्रा भगवती है = (या देवी सर्वभूतेषु निद्रारुपेण संस्थिता), निद्रा माँ है, सांसरिक झंझावातों से जूझते थके हारे अपने बालक को अपनी गोद में छिपाकर स्नेह-पूर्वक विश्रान्ति देती है। उसके समस्त दुःखों को मिटा देती है, माँ का प्यार भरा स्पर्श पाकर प्राणी तरोताजा हो जाता है, पुनः शक्ति-सम्पन्न हो जाता है। उठ खड़ा होता है सागरों को लाँघने के लिए, पर्वतों के शिखरों को झुकाने के लिए, आसमान को चूमने के लिए, सिंह-शावकों से खेलने के लिए। निद्रा पर्याय है पूर्ण सुख का। निद्रा का साक्षी कौन है? निद्रा के सुख का साक्षी कौन है? निद्रा-सुख का अनुभव करने वाला कौन है?

जगने के उपरान्त आनन्द से खिला हुआ पूर्ण परितोष को प्राप्त व्यक्ति कह उठता है- अरे! कितना समय हुआ? मैं कहाँ हूँ? मैं कुछ नहीं जानता। ऐसी मस्त नींद आई, मज़ा आ गया, इतनी गहरी नींद, अहा! -मैं कुछ नहीं जानता......इन बातों को जो कह रहा है। ये बातें इसे कहाँ से पता चलीं। जैसे कुछ जानना ज्ञान है, वैसे ही कुछ नहीं जानना भी तो ज्ञान ही है। निद्रावस्था के आनन्द की स्मृति को संजोकर अब तक रखा, अब बता रहा है।

वैसे भी जितने झंझट हैं सब जगते तक ही हैं, सो जाने पर कुछ नहीं। जब तक आँख खुली है तभी तक चिन्ता-चोर-सर्प-सिंह-शत्रु-मित्र का खेल है। आँखें बंद हुई तो सब खत्म, चाहे जो हो।

निद्रावस्था में आत्मा केवल कारण शरीर से सम्बद्ध रहता है। कारण शरीर अविद्या जनित है अतः इस शरीर का अभिमानी जीव न तो स्वयं को जान पाता है, न नामरुपात्मक जगत् को ही। इसीलिए इसे प्राज्ञ कहते हैं।

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि आत्मा स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीरों से भिन्न है। तथा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी भी है।

	जाग्रत	**स्वप्न**	**सुषुप्ति**
देवता	विश्व	तेजस्	प्राज्ञ
कार्य	श्रोत्रादि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा	जाग्रत में देखे सुने की	पूर्ण प्रगाढ़ निद्रा के सुख को

संबंध	शब्दादि विषयों का ग्रहण स्थूल, सूक्ष्म, कारण-तीनों शरीरों से सम्बद्ध देहेन्द्रियाँ सक्रिय	वासना के कारण पुनः प्रतीति होना सूक्ष्म व कारण शरीर से सम्बद्ध केवल मन सक्रिय	जगने पर बताता है। केवल कारण शरीर से सम्बद्ध केवल जीवात्मा सक्रिय

पंचकोशाः

प्रश्न-मूलम् = पञ्चकोशाः के ?

मूलार्थ=पाँच कोश कौन से हैं?

उत्तर-मूलम् = **अन्नमयः प्राणमयः मनोमयः विज्ञानमयः आनन्दमयश्चेति।**

मूलार्थ=अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय ये ही पाँच कोश हैं।

आत्मा के आवरण हैं तीन शरीर। ये तीनों शरीर ही प्रकारान्तर से पंचकोश कहलाते हैं, यथा-

1. अन्नमयकोश — स्थूल शरीर
2. प्राणमय ┐
3. मनोमय ├── सूक्ष्म शरीर
4. विज्ञानमय ┘
5. आनंदमयकोश — कारण शरीर

इन पंचविध आवरणों (कोशों) से आवृत (आच्छादित) आत्मा प्रकाशित नहीं हो पाता है। इन पाँचों कोशों से पृथक् सत्ता वाले आत्म रत्न का

साक्षात्कार करने के लिए इन पाँचों आवरणों को हटाना होगा।

मानों जैसे हमने पाँच कपड़े पहन लिए हों। इनसे हम पूरी तरह ढक गए हों। [कोट, स्वेटर, कमीज, इनर, बनियान] परन्तु हम इन पंचविध वस्त्रों से तो पृथक् ही हैं। ठीक वैसे ही आत्मा भी इन पाँचों कोशों से भिन्न है।

(स्थूलशरीरम्)

प्रश्न-मूलम्- अन्नमयः कः

मूलार्थ=अन्नमय कोश क्या है?

उत्तर-मूलम्- अन्नरसेनैव भूत्वा अन्नरसेनैव वृद्धिं प्राप्य अन्नरुपपृथिव्यां यद्विलीयते तदन्नमयः कोशः स्थूलशरीरम्।

मूलार्थ=अन्नरसेनैव भूत्वा = पिता द्वारा भुक्त अन्न के रस से उत्पन्न, अन्नरसेनैव वृद्धिं प्राप्य = मातृभुक्त अन्नरस से वृद्धि को प्राप्त, अन्नरुपपृथिव्यां = अन्नरुपपृथ्वी में, यत् विलीयते = जो विलीन हो जाता है, तत् अन्नमयः कोशः = वह अन्नमय कोश है, स्थूल शरीर है।

अन्न की प्रधानता वाले कोश को अन्नमय कोश कहा जाता है। अन्नमय कोश की मुख्य सृष्टि स्थावरों-वृक्षादि में है, क्योंकि ये जड़ों से आहार लेते हैं। यह अन्नमय कोश (स्थूल शरीर) आत्मा नहीं है। क्योंकि यह तो जन्म-मरण-जरा-रोग से ग्रस्त है। जबकि आत्मा अजन्मा, एकरुप है। अन्नमयकोश विकारी है जबकि आत्मा अविकारी है। यह जन्म से पूर्व था नहीं, मृत्यु के उपरान्त रहेगा नहीं। अन्नमय कोश जड़ है। यदि इस अन्नमय कोश को आत्मा मान लें तो बड़ी गड़बड़ी होगी- दो दोष आ जायेंगें-

1. अकृत अभ्यागम अर्थात् जो कर्म किया नहीं गया उसका फल हमें प्राप्त होने लगेगा।

2. कृतविप्रनष्ट-अर्थात् जो कर्म हम कर रहे हैं उसका विनाश हो जायेगा। जब अन्नमय कोश जन्म से पूर्व था नहीं तब इसे रुप, विद्या, धन, शक्ति, भवन, भूमि कैसे प्राप्त हुए?

अब जो सत्-असत् कर्म इस शरीर से हो रहे हैं। मृत्यु के बाद यह शरीर तो रहेगा नहीं तब वे कर्म तो नष्ट हो जायेंगें। अतः किसी भी रुप में अन्नमय कोश आत्मा नहीं है।

सूक्ष्मशरीरम्

प्रश्न-मूलम्= प्राणमयः कोशः कः?

मूलार्थ=प्राणमय कोश क्या है?

उत्तर-मूलम् = प्राणाद्याः पञ्चवायवः वागादीन्द्रियपञ्चकं प्राणमयः कोशः।

मूलार्थ=प्राणाद्याः पञ्चवायवः = प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान ये पाँच वायु, वागादीन्द्रियपंचकम् = वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, प्राणमयः कोशः अस्ति = प्राणमय कोश है।

प्राणों का प्राधान्य जहाँ है, वह प्राणमय कोश है। प्राणमय कोश की प्रधानता वाली सृष्टि स्वेदजों अर्थात् पसीने से उत्पन्न होने वाले जूँ, खटमल आदि में है।

यह प्राणमय कोश क्रिया शक्ति प्रधान है। शरीर के अंदर कार्य करने वाली शक्ति प्राण है। यद्यपि प्राण एक है, तथापि इसके पाँच कर्म होने के कारण यह पाँच प्रकार का है। ये पाँचों प्राण अपञ्चीकृत पंचमहाभूतों के रजो अंश से उत्पन्न हैं तथा कर्मेन्द्रियाँ भी रजो अंश से ही हैं। यह प्राण देह के अंदर पाँच रुपों में क्रिया करता है-

१. प्राण- यह हृदय में रहता है। 24 घंटे में यह प्राण 21,600 बार श्वास-प्रश्वास क्रिया करता है। उपनिषदों में प्राणोपासना बहुधा वर्णित है। शरीर के समस्त अवयवों में प्राण ही सर्वश्रेष्ठ, ज्येष्ठ है। इन्द्रियों तथा प्राण का परस्पर कलह हुआ। सब बोले-हम बड़े हैं- परीक्षा हुई- निश्चय हुआ- जिसके निकल जाने से यह शरीर निश्चेष्ट हो जाये वही बड़ा है। एक-एक कर इन्द्रियाँ आईं-गईं, देह पर अंतर नहीं आया। परन्तु जैसे ही प्राण निकलने

लगा, इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं। रोम-रोम चीत्कार करने लगा। तब सभी ने एकमत हो प्राण को ही श्रेष्ठ मान लिया। प्राण बिना मातृगर्भ में भ्रूण विकसित नहीं होगा, सड़ जायेगा। अन्य इन्द्रियाँ तो अपने-अपने घर (गोलक) बन जाने पर आती हैं, अपना व्यापार करती हैं, किन्तु प्राण तो पहले से ही रहता है। सारा शरीर, इन्द्रियाँ विषयासक्ति से थककर विश्राम करती हैं, परन्तु यह प्राण तो कभी न थकने वाला निरन्तर अनासक्त भाव से क्रियाशील रहता है।

२. अपान- येन अपनीयते हेयांशः शरीरात् इति अपानः [अपानयति मलादिकं देहात्] यह अपान विसर्जन शक्ति है। मल-द्वार इसका आवास है। शरीर से मल, मूत्र, वीर्य, थूक, पसीना, अश्रु आदि विकारों को बाहर निकालने के कारण ही इसे अपान कहते हैं।

३. समान- यह पाचन-शक्ति है। उदर में रहकर भुक्तान्न को यथायोग्य नाड़ियों में भेजता है, समीकरण करता है। [समानीयते येन भुक्तान्नं पाचयित्वा इति समानः] खाए-पीये अन्नादि को पचाकर रस बनाता है तथा नाड़ियों में वितरण कर देता है।

४. व्यान- व्यानिति सर्वशरीरं व्यापनोति इति- यह रक्तसंचालक शक्ति है। यह सारे शरीर में रहता है, शरीरावयवों को बल देता है, शरीर को फेरता है अतः व्यान कहलाता है।

५. उदान- उदान वायु के कारण डकार आती है (ऊपर की ओर श्वास लेना)। यह कण्ठ-देश में रहता है। होंठ-मुख फड़कने लगते हैं। शरीर-नेत्र को प्रकुपित करता है। मर्मों को उद्विग्न करता है। यह खाए-पीए अन्न को यथा-स्थान विभक्त करता है, अन्त में उत्क्रमण करने से यह उदान कहलाता है।

यह प्राणमय कोश भी आत्मा नहीं है क्योंकि यह जड़ है। अन्नमय कोश को आत्मा मानने पर दो दोष दिए गए थे- 1 अकृताभ्यागम 2. कृतविप्रनाश। सो ये दोनों दोष भी यहाँ हैं नहीं, क्योंकि प्राणमय कोश तो इस देह से पहले भी था और इसके मिटने पर भी रहेगा। फिर भी जड़त्वात् यह आत्मा नहीं

है।

वायु	कार्य	स्थान
प्राण	श्वास लेना	हृदय
अपान	मल-मूत्र विसर्जन	नाभि से नीचे
समान	भुक्त-पीत का समीकरण	उदर
व्यान	अंग फेरना व बल देना	समस्त शरीर
उदान	डकार आदि का आना व अन्नादि का अधोनयन	कण्ठ

सूक्ष्मशरीरम्

प्रश्न-मूलम्- मनोमयः कोशः कः?

मूलार्थ=मनोमय कोश क्या है?

उत्तर-मूलम् = मनश्च ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं मिलित्वा यो भवति स मनोमयः कोशः।

मूलार्थ=मनः = मन, ज्ञानेन्द्रियपंचकं च =और पॉच ज्ञानेन्द्रिय, मिलित्वा =मिलकर, यो भवति =जो होता है, सः मनोमयः कोशः =वह मनोमय कोश है।

संकल्पविकल्पात्मक व्यापार करने वाला अन्तःकरण का एक भाग मनोमय कोश के रुप में प्रसिद्ध है।

अन्नमय कोश की अपेक्षा प्राणमय कोश सूक्ष्म है, प्राणमय कोश की अपेक्षा मनोमय कोश सूक्ष्म है। उत्तरोत्तर कोश ही नियन्त्रक भी होते हैं। जैसे अन्नमय कोश का नियन्त्रक प्राणमय कोश, अन्नमय और प्राणमय कोश-दोनों का नियन्त्रक मनोमयकोश है। मन के खिन्न होने पर प्राण व देह भी अनुत्साहित, पीड़ित दिखते ही हैं।

यह मन ही है, जो ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त स्वाद को बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत

करता है, कर्मेन्द्रियाँ इसी के इशारे पर चलती हैं।

अच्छा कल्पना करें, यदि मन न होता तो क्या होता? परमात्मा ने मनुष्य को बनाकर प्रसन्नता का अनुभव किया परन्तु जल्दी ही सचेत हो ग य । ब्रह्मा; अरे, यह मनुष्य इतना विलक्षण प्राणी है; आने वाले कल में यह मेरी सत्ता को तुच्छ बना देगा। अतः तुरन्त मनुष्य के अंदर मन रुपी ऐसा यंत्र लगा दिया; जा बेटा! अब तू एक पल भी चैन से जी न पायेगा। उपासना की गंगा के अवगाहन से ऊबकर न जाने कब वासना की गंदी नाली में डुबकी लगा दे। इस मन का कुछ पता नहीं; किसी को पता नहीं, क्या कर दे, कब कर दे कहाँ कर दे, कैसे कर दे। इस मन को समझाने के लिए, प्रशिक्षित करने के लिए, अनादि काल से बड़े-बड़े शास्त्र, सत्संग, उपदेश, साधना, देवालय, व्रत, यज्ञ, तप होते आए परन्तु यह मन तो मन ही है।

अर्जुन ने कहा- 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण' -गीता 6/34

प्रह्लाद ने कहा- नैतन्मनस्तवकथासु विकुण्ठनाथ
सम्प्रीयते दुरितदुष्टमसाधु तीव्रम्।
कामातुरं हर्षशोकभयैषणार्तं
तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः।।- सप्तमे, प्रह्लाद कृतस्तुति

भगवन्! यह मन आपकी कथा में नहीं रमता, दुरितों से दूषित है, असाधु है, तीव्र है, कामातुर है, हर्ष-शोक-भय-एषणा से आर्त है। तब कहो कैसे इस मन से तुम्हारा चिन्तन करुँ।

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः

यहाँ तो लेखनी ने सब कुछ कहकर विश्राम ले लिया। बंधन और मुक्ति में मन ही कारण है। जय-पराजय, लाभ-हानि, मान-अपमान, यश-अपयश, जन्म-मृत्यु, हर्ष-शोक, शत्रु-मित्र, अपना-पराया, अच्छा-बुरा, सुख-दुःख सब मनोराज्य का ही खेल है।

सुख क्या है-अनुकूलता का अनुभव।

दु:ख क्या है-प्रतिकूलता का अनुभव।

1. अन्नमय कोश आत्मा नहीं है। कारण? = यह अकृताभ्यागम कृतविप्रणाश दोष युक्त है।

2. प्राणमय कोश आत्मा नहीं है। कारण? = यह जड़ है।

3. मनोमय कोश आत्मा नहीं है। कारण? यह विकारी है जबकि आत्मा निर्विकार है।

मनोमयकोश जाग्रत स्वप्न में सक्रिय रहता है पर सुषुप्ति में निष्क्रिय रहता है अतः यह आत्मा नहीं है। मन की प्रधानता वाला कोश मनोमय कोश है। मनोमय कोश के प्राधान्य वाली सृष्टि है- अण्डज। जैसे चींटी, सर्प, कछुआ आदि तोता, मोर, कोयल, कौआ आदि। इनमें मन का असर जाग्रत रहता है अतः राग-द्वेष की मात्रा भी भरपूर होती है।

(सूक्ष्मशरीरम्)

प्रश्न-मूलम् = विज्ञानमयः कोशः कः?

मूलार्थ=विज्ञानमय कोश क्या है?

उत्तर-मूलम्- बुद्धिः ज्ञानेन्द्रियपंचकं मिलित्वा यो भवति स विज्ञानमयः कोशः।

मूलार्थ=**बुद्धिः** = बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियपंचकं च = और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मिलित्वा= मिलकर, यो भवति = जो होता है, सः =वह, विज्ञानमय:कोशः = विज्ञानमयकोश है।

अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति ज्ञानेन्द्रियों से संयुक्त हो विज्ञानमय कोश कहलाती है। विज्ञानमय कोश भी जाग्रत, स्वप्न तक ही सीमित है। सुषुप्ति में यह भासित नहीं होता। जबकि आत्मा सदा विद्यमान है, सर्वत्र विद्यमान है। अतः आत्म-सत्ता इससे भी भिन्न है।

देह-प्राण- मन की अपेक्षा बुद्धि सूक्ष्म है। मन केवल ज्ञात क्षेत्र में विचरण कर सकता है किन्तु बुद्धि ज्ञात और अज्ञात दोनों में प्रविष्ट हो, नवीन आविष्कार कर सकती है। बुद्धि प्रधानमंत्री है, मन सचिव है, ज्ञानेन्द्रियाँ-पुलिस-अफसर हैं और कर्मेन्द्रियाँ सेवक हैं। जैसे ज्ञानेन्द्रियाँ मन को संकेत करती हैं सुनकर, देखकर तीर्थयात्रा पर चलें, मन तुरन्त बुद्धि के सम्मुख प्रस्ताव रखता है-करें न करें, बुद्धि निर्णय करती है और मन को आदेश देती है-तुम्हारी सलाह मानी गयी, चलें-तुरन्त मन कमेन्द्रियों को, पैरों को आदेश देता है-चलो।

बुद्धि (विज्ञान) की प्रधानता वाला कोश विज्ञानमय कोश है।

विज्ञानमय कोश की प्रधानता वाली सृष्टि जरायुज (गर्भाशय से उत्पन्न) है। जरायुजों में भी चतुष्पाद पशुओं में फलतः बुद्धिमानी में समझदारी में कुत्ता, घोड़ा आदि विशेषतया ग्राह्य हैं।

(कारणशरीरम्)

प्रश्न-मूलम् = आनंदमयः कोशः कः?

मूलार्थ=आनन्दमय कोश क्या है?

उत्तर-मूलम् = एवमेव कारणशरीरभूत अविद्यास्थ मलिनसत्त्वं प्रियादिवृत्ति-सहितं सत् आनन्दमयः कोशः।

मूलार्थ=एवम्एव = इसी तरह, कारणशरीरभूत = कारण शरीर भूत, अविद्यास्थ मलिनसत्त्वं = अविद्या में स्थित मलिन सत्त्व, प्रियादिवृत्तिसहितं = प्रिय मोद-प्रमोद वृत्ति सहित, सत् आनन्दमयः कोशः = यही आनन्दमय कोश है।

प्रिय मोद प्रमोदादिवृत्तिमत्, स्वरूपाज्ञानं यत् अस्ति तत् आनन्दमयः कोशः। (प्रिय मोद-प्रमोद वृत्तियों वाला स्वरूप का जो अज्ञान है वही आनन्दमय कोश है)

स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों का कारण होने से यह कारण-शरीर कहा जाता

है तथा स्थूल, सूक्ष्म की अपेक्षा अधिक सुख होने से आनन्दमय कोश कहलाता है।

अविद्या से उत्पन्न यह जीवात्मा सुषुप्ति में कारण शरीर में ही रहता है। यह बुद्धि से भी सूक्ष्म है। यह आनन्दमयकोश मलिन सत्त्व से निर्मित है।

सत्त्व में रज और तम का मिलना ही सत्त्व का मलिन होना है। आत्म तत्त्व इसी मलिनता से आवृत्त सा हो जाता है। फलतः होने पर भी उसका ज्ञान नहीं होता। मलिन सत्त्व का वासना-पुंज ही अविद्या है, अविद्या से उत्पन्न तथा अविद्या से नियन्त्रित बुद्धि में आत्म-रूप का दर्शन नहीं होता। जाग्रत में चाहे जैसी दशा हो, किन्तु सुषुप्ति में सब समान रूप से सुख का अनुभव करते हैं। यह ऐसी माँ है जो बिना किसी भेदभाव के सबको समान सुख देती है मूर्ख हो चाहे विद्वान, राजा हो या रंक, चोर हो चाहे शाह, पापी हो या पुण्यात्मा, सबको बराबर सुख।

परन्तु सुषुप्ति (आनन्दमय कोश) का आनन्द शुद्ध आत्मा का आनंद नहीं है, अविद्या की उपाधि में यह तीन रूपों में भासित होता है-प्रिय-मोद-प्रमोद।

प्रिय-अप्राप्त किन्तु प्रिय वस्तु के स्मरण से जो सुख होता है वह प्रिय कहलाता है।

मोद-अप्राप्त किन्तु प्रिय वस्तु की प्राप्ति होने पर जो क्षणिक सुख होता है वह मोद कहलाता है।

प्रमोद-अप्राप्त किन्तु प्रिय वस्तु की प्राप्ति के अनन्तर उसका उपभोग करने पर जो क्षणिक सुख होता है वह प्रमोद कहलाता है।

जैसे आकाश में बादल उत्पन्न होता है व नष्ट होता रहता है। वैसे ही जाग्रत, स्वप्न में सुख पल-पल उत्पन्न होता व नष्ट होता रहता है। किन्तु सुषुप्ति में वह सुख कुछ स्थायी होता है। परन्तु निद्राभंग होते ही वह सुख ख़त्म हो जाता है। पुनः वही दुःख-दाह-दैन्य का लबालबभरा सागर। अतः सदा न रहने वाला आनन्दमय कोश भी आत्मा नहीं है। अपितु आनन्दमय

कोश का आश्रय आधार जो स्थायी आनन्द है वही आत्मा है जो इससे भी परे है।

आनन्दमयकोश में प्रतीत होने क्षणिक सुख (आनन्द) की झलक जहाँ से आई, वही आनन्दसिन्धु आत्मा है।

आनन्दमयकोश की प्रधानता वाली सृष्टि जरायुज (गर्भाशय से उत्पन्न) द्विपाद मानव है।

पञ्चकोशाः

अन्नमय	प्राणमय	मनोमय	विज्ञानमय	आनन्दमय
स्थूलशरीर	सूक्ष्म	सूक्ष्म	सूक्ष्म	कारण
जाग्रत	जाग्रतस्वप्न	जाग्रतस्वप्न	जाग्रतस्वप्न	सुषुप्ति
अन्नरस से पुष्ट	5 प्राण + 5 कर्मेन्द्रियाँ	मन + पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ	बुद्धि + पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ	अविद्या
स्थावर वृक्षादि उद्भिज्	जूँ आदि स्वेदज	सर्प, पक्षी आदि अण्डज	पशु आदि चतुष्पाद जरायुज	मानव द्विपाद जरायुज
अनित्य, नाशवान सादि सान्त है अतः आत्मा नहीं है	जड़ होने से आत्मा नहीं है	यह विकारी है अतः आत्मा नहीं है।	जाग्रत-स्वप्न तक रहने से सार्वकालिक आत्मा नहीं हैं। अतः आत्मा नहीं है।	क्षणिक सुख वाला होने से नहीं है।

मूलम्-एतत्कोशपञ्चकं मदीयं शरीरं मदीयाः प्राणाः मदीयं मनश्च मदीया बुद्धिर्मदीयं ज्ञानमिति स्वनैव ज्ञायते। तद्यथा मदीयत्वेनज्ञात कुण्डल-कटक-गृहादिकं स्वस्माद्भिन्नं तथा पञ्चकोशादिकं मदीयत्वेन ज्ञातमात्मा न भवति।

व्याख्या-एतत्कोशपंचकम् = ये ही पाँच कोश हैं, जो आत्मा को ढके

रहते हैं। आत्मा का निकटतम सबसे पहला आवरण है कारण शरीर रूप आनन्दमयकोश। उससे भ्रमित हम प्रिय-मोद-प्रमोद वृत्तियों के आनन्द में ही डूबे रहते हैं तथा उसी को आत्मा मान लेते हैं। आत्मा तक नहीं पहुँच पाते।

दूसरा आवरण है विज्ञानमयकोश का-फलतः हम समझते हैं हमें यह ज्ञान है, यह ज्ञान नहीं है।

तृतीय आवरण है मनोमय कोश का-फलतः हम स्वयं को सुखी-दुःखी, विजयी-पराजित, सम्मानित अपमानित मान बैठते हैं।

चौथा आवरण है प्राणमय कोश का-जिससे हम स्वयं को चलता-फिरता, भूखा प्यासा मान लेते हैं।

पंचम व अन्तिम आवरण है अन्नमय कोश का (स्थूल शरीर का)-जिससे हम स्वयं को मोटा-पतला-गोरा-काला-स्त्री-पुरुष-ब्राह्मण-शूद्र समझ बैठते हैं।

इन सब भ्रमों से मुक्त हो सत्चित् आनन्दरूप आत्मा को पाना चाहिए जैसे मूँज की पत्तियों को हटाकर सींक निकाली जाती है वैसे ही इन कोशों में ढकी हुई आत्मा को पा लेना चाहिए।

मदींय शरीरं-शरीर मेरा है (मैं शरीर नहीं हूँ।)

मदीयाः प्राणाः-प्राण मेरे हैं (मैं प्राण नहीं हूँ।)

मदीयं मनः-मन मेरा है (मैं मन नही हूँ।)

मदीया बुद्धिः-बुद्धि मेरी है (मैं बुद्धि नहीं हूँ।)

मदीयं ज्ञानं = ज्ञान मेरा है (मैं ज्ञान नहीं हूँ।)

इति स्वेनैव ज्ञायते = इस प्रकार ये सब आत्मीयरूप से ही जाने जाते हैं न कि आत्मा रूप से।

तत् यथा = जैसे, मदीयत्वेनज्ञातं = आत्मीयरूप से जाने गए कुण्डलकटकगृहादिंकं = कुण्डल, कटक, घर आदि, स्वस्मात् भिन्नं = स्वयं

अवश्य-यह सिद्धान्त है। परन्तु आत्मा तो नित्य है, जन्म-मृत्यु से परे है-'न जायते म्रियते वा कदाचित्,' (गीता 2/20)

अतः आत्मा ही सत् है।

दिखने वाली वस्तु यदि सत्य होती तो मरुस्थल में जल, सीपी में रजत, रस्सी में सर्प, झुंड में भूत, आकाश का नीलापन, जादूगर का हाथी, स्वप्न का विचित्र संसार-सब सच्चा हो जाता। परन्तु ऐसा नहीं है।

तीन प्रकार की सत्ता है-

1. पारमार्थिक

2. व्यावहारिक

3. प्रातिभासिक

1. पारमार्थिक सत् ब्रह्म ही है क्योंकि 'त्रिकालावध्यत्वं सत्यत्वं'। यह तीनो कालों (भूत, भविष्य, वर्तमान) में अबाधरूप से विद्यमान रहता है। संसार दशा में इसकी प्रत्येक वस्तु में अस्तिरूप से (अस्ति इति सत्) ब्रह्म ही भासित होता है, ब्रह्मज्ञान होने पर नामरूपात्मक जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होने पर मैं ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मास्मि) इस प्रकार ब्रह्म का अस्तित्व भासता ही है।

2. फिर यह जो जगत् सच्चा सा लगता है यह क्या है ? जगत् की सत्ता व्यावहारिक सत्ता है। यह ब्रह्मज्ञान से पूर्व व्यवहार में सत् की तरह लगता है और ब्रह्मज्ञान होने पर उसका अस्तित्व नहीं रहता। मात्र व्यवहारदशा में रहता है, अतः व्यावहारिक सत्ता वाला है।

घना अंधेरा तक तक ही है जब तक प्रकाश न हो। प्रकाश का अभाव ही तो अंधकार है। अंधकार की अपनी कोई सत्ता नहीं वैसे ही जगत् की कोई सत्ता नहीं। ब्रह्म ज्ञान का अभाव ही जगत है। जाग्रति का अभाव ही स्वप्न है जैसे सपना भी सच्चा जैसा लगता है वहाँ भी प्रेम-द्वेष, क्रोध-भय, रोना-हँसना, भूख-प्यास होते ही हैं परन्तु जागते ही सारा प्रपञ्च ख़त्म।

3. रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होना, व्यर्थ ही सर्प भासित होना, यहाँ सर्प

से भिन्न होते हैं, तथा = उसी तरह, पञ्चकोशादिकं = पञ्चकोश आदि भी मदीयत्वेन = आत्मीयरूप से, ज्ञातं = जानाहुआ, आत्मा न भवति = आत्मा नहीं होता।

जैसे ज्ञाता (जानने वाला) और ज्ञेय (ज्ञान का विषय) में भेद है दृष्टा (देखने वाला) और दृश्य (दिखने वाली वस्तु) में भेद है। देखने वाला स्वयं को दृश्य से भिन्न ही जानता है। जैसे घर और घर का स्वामी भिन्न हैं, वैसे ही यह शरीर (घर) और इस शरीर में रहने वाला (आत्मा) पृथक् है। यह शरीर, प्राण-मन इन्द्रियाँ-बुद्धि, घर, वस्त्र, पत्नी, पुत्र, सम्पत्ति, मित्र, शत्रु सब मेरे हैं इनमें मैं कोई नहीं है।

जहाँ भी मेरा जुड़ जाय वह आत्मा नहीं है। जहाँ 'मेरा' न लग सके वही आत्मा है।

इस प्रकार तीनों शरीरों से भिन्न, पाँचों कोशों से परे, तीनों अवस्थाओं का जो साक्षी है, वही आत्मा है।

प्रश्न-मूलम् = आत्मा तर्हि कः ?

मूलार्थ=तो फिर आत्मा क्या है ?

उत्तर-मूलम् = सच्चिदानन्द स्वरूपः।

मूलार्थ=सत्-चित् आनन्दमयस्वरूप आत्मा है।

पढ़ना-सुनना-पढ़ाना-सुनाना-पूछना-बताना ये सब शब्दों के खेल हैं, शब्दों का जितना बड़ा खिलाड़ी होगा, उतनी तरह से खुद को, औरों को बहला लेगा। वस्तुतः कहना आसान है भी और नहीं भी। जिसे बात बनानी आ गई वह वेदान्त की भारी-भारी सभाओं में ब्रह्म की ही बात करेगा। संसार को मिथ्या और ब्रह्म की सत्ता को सत्य बताने के लिए रटे गए श्लोकों-मंत्रों-युक्तियों-तर्कों की बौछारें सी करेगा पर जरा उसकी उपेक्षा कर दो, माला न पहनाओ, आगे से माइक खींच लो, उसकी बात काट दो, तब देखो ब्रह्म गायब। संसार सच्चा है या झूठा पता चल जायेगा।

जिसे बेचारे को बातें बनानी नहीं आई, पुस्तकें पढ़ी नहीं वो आत्मा के विषय में क्या कहे, अतः जो कह रहा है उसी को ब्रह्म ज्ञानी मान लिया जाता है। हम सत्संग का, प्रवचन का श्रवण का निषेध नहीं कर रहे अपितु श्रवण को मनन में परिणत किया जाये, मनन को निदिध्यासन द्वारा अपने दैनिक व्यवहार में उतारा जाये, हम जो पढ़े-सुनें उस पर मनन करें, मनन द्वारा उसे आत्मसात् करके जीवन में उतारें।

प्रश्न-मूलम्-सत्किम्?

मूलार्थ=सत् क्या है?

उत्तर-मूलम् -कालत्रयेऽपि तिष्ठतीतिसत्।

मूलार्थ=जो तीनों कालों में रहता है वह सत् है।

आत्मा शरीर के जन्म से पूर्व था, शरीर के रहने पर है, शरीर के मिट जाने पर भी रहेगा। जैसे मिट्टी घड़ा बनाने से पूर्व थी, घड़ा बनने पर भी रही, घड़ा फूट जाने पर भी रहेगी। वैसे ही ब्रह्म सृष्टि के पूर्व था, सृष्टिकाल में भी रहा, सृष्टि के प्रलय होने पर भी रहता है। अतः ब्रह्म ही सत् है।

दिखने वाला यह भौतिक प्रपंच नित्य मिटता व बनता रहता है। भवन-वाहन-वस्त्र-वस्तु-उपवन-नगर-डगर सब असत् हैं।

जगत्-गच्छति इति जगत्-जो जा रहा है निरन्तर वह जगत् है।

संसारः-संसरति इति-जो निरन्तर मृत्यु की ओर बढ़ रहा है। हम सबके देह कहीं भी जा रहे हैं। खा-पी-सो रहे हैं पर सब मौत की ओर बढ़ रहे हैं। जैसे ट्रेन में बैठा व्यक्ति चाहे नाचे-गाए, रोये-सोए, खाए-पीए, आगे जाए चाहे पीछे जाए पर ट्रेन की गति से गन्तव्य की ओर ही जा रहा है वैसे ही हम कुछ भी करें पर निरन्तर प्रतिपल मौत की ओर ही बढ़ रहे हैं।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः (गीता 2/27)

जिसका जन्म हुआ है उसे मरना ही होगा। जो बना है वह बिगड़ेगा

है नहीं तब भी भासित हो रहा है अतः सर्प की सत्ता प्रातिभासिक है। सर्वदा सर्वत्र जो एक रंग, एक रस, एक रूप रहे, परिवर्तित न हो, वह ब्रह्म है सत् है। जो परिवर्तित हो रहा है वह असत् है।

प्रश्न-मूलम् = चित् किम् ?

मूलार्थ=चित् क्या है ?

उत्तर-मूलम् - ज्ञानस्वरूपः।

मूलार्थ=ज्ञान स्वरूप ही चित् है।

ज्ञान दो तरह का होता है 1. स्वरूपज्ञान 2. घट-पट-मठ विषयक ज्ञान।

स्वरूप ज्ञान नित्य है। घटपटविषयकज्ञानोत्पत्ति विनाशशील है।

चैतन्य आत्मा के संसर्ग से ही हमारा यह जड़ देह चैतन्य प्रतीत होता है (जैसे विद्युत-सम्बन्ध से जड़ उपकरण सक्रिय हो उठते हैं।)

आत्म चेतना के प्रकाश में ही बुद्धि मन एवं इन्द्रियाँ किसी वस्तु का ज्ञान ग्रहण करती हैं। सुषुप्ति या समाधि में जब मन, इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाते हैं, तब यह चित्स्वरूप आत्मा ही विद्यमान रहता है; तब हम स्वप्रकाश में ही स्वसत्ता का अनुभव करते हैं।

जगत् तो जड़ है इसमें जो चेतनता की प्रतीति है, वह ब्रह्म के संसर्ग से ही है। ब्रह्म के अतिरिक्त चेतनता अन्यत्र है ही नहीं। ब्रह्म ही ज्ञान है-तदतिरिक्त अज्ञानरूप है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

प्रश्न-मूलम्-आनन्दः कः अस्ति?

मूलार्थ=आनन्द क्या है ?

उत्तर-मूलम्- सुख-स्वरूपः ।

मूलार्थ=सुखस्वरूप ही आनन्द है।

आत्मा सुखस्वरूप है। आत्मा नित्य है। अतः इसका सुख भी नित्य है।

मन जिसे सुख मानता है वह सुख भी आत्मा सम्बन्धी ही है। वैसे सुख दो प्रकार का है 1. स्वरूप सुख 2. वैषयिक सुख

1. स्वरूपसुख (आत्मानन्द) नित्य है, स्थिर है अतः आत्मा परम प्रेमास्पद कहा जाता है। अन्य वस्तुओं व्यक्तियों में प्रेम अपने सुख के लिए होता है जबकि आत्मा का प्रेम स्वाभाविक है।

सुख और सुख के साधनों को सब चाहते हैं। दुःखों से मुक्ति सभी चाहते हैं। आत्मा सर्वथा दुःख शून्य, सुखस्वरूप है। इसलिए आत्मा से सभी को प्रेम होता है।

सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा का अपरोक्ष अनुभव ही मोक्ष का अन्तरंग साधन है।

2. वैषयिक सुख-यह विषय तथा अन्तःकरण की वृत्ति के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है तथा यह प्रिय, मोद, प्रमोद नाम से जाना जाता है। यह स्थिर नहीं रहता-अनित्य है, क्षणिक है।

संसार की वस्तु-व्यक्ति-स्थान एक पल सुख देते हैं तो अगले पल दुःख देते हैं। एक पल अच्छे लगते हैं तो अगले पल बुरे लगने लगते हैं जैसे जून में कूलर बहुत अच्छा लगता है परन्तु जनवरी में बुरा। जनवरी में आग तापना बहुत अच्छा लगता है पर जून में बहुत बुरा।

यौवन-शक्ति सम्पन्न युवा को यौवन-धन सम्पन्न युवती अच्छी लगती है किन्तु रोगी होने पर या वृद्ध होने पर नहीं।

वसन्त की खिली वाटिका बहुत अच्छी, परन्तु पतझड़ में शुष्क नीरस उद्यान बुरा।

मूलम्-एवं सच्चिदानन्दस्वरूपं स्वात्मानं विजानीयात्।

इस प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूप अपने आत्मा को अच्छी तरह जानना चाहिए। जो स्वयं हमसे अभिन्न है, अपना ही स्वरूप है, वह आत्मा है। आत्मा के लक्षण ही मेरे लक्षण हैं। मैं स्वयं सत् चित् एवं आनन्दस्वरूप हूँ।

मैं शरीर, मन, बुद्धि नहीं हूँ।

(मनो-बुद्धिः अहंकार चित्तानि नाहं)

इन पंचकोशों से घिरे स्वयं को, आत्म-स्वरूप को जानना चाहिए।

३. जगद्रचना प्रकार

मूलम्-अथ चतुर्विंशंति तत्वोत्पतिप्रकारं वक्ष्यामः।

मूलार्थ=अब हम चौबीस तत्त्वों की उत्पत्ति के प्रकार को बताते हैं।

ये चौबीस तत्व हैं- 5 महाभूत = पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश।

5 प्राण = प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान।

5 कर्मेन्द्रियाँ = वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ।

5 ज्ञानेन्द्रियाँ = श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, घ्राण।

4 अन्तः करण चतुष्ट्य = मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार।

24

ये 24 तत्व सदा नहीं रहते हैं अतः असत् हैं। इनकी रचना माया से हुई है।

मूलम्-ब्रह्माश्रया सत्व रजस्तमो गुणात्मिका माया अस्ति।

मूलार्थ=ब्रह्माश्रिता माया सत्त्व, रज, तमो गुणमयी है।

नित्य वस्तु तो एकमात्र ब्रह्म ही है, उससे भिन्न जो है सब अनित्य है 'ब्रह्मस्तावत् नित्यः तत् अन्यत् सर्वं अनित्यम्'

ब्रह्म तो देश काल वस्तु से परे तीनों कालों में वर्तमान है। इसके आश्रय से ही यह माया सत्य जैसी प्रतीत होती है।

जासु सत्यता तें जड़ माया

भास सत्य इव मोह सहाया- (मानस, बालकाण्ड, 117/8)

किसी वस्तु की उत्पत्ति में दो कारण होते हैं। 1. उपादान 2. निमित्त जैसे घट बनाने में मिट्टी उपादान है तथा कुम्भकार निमित्त है। स्वर्णहार बनाने में स्वर्ण उपादान है, स्वर्णकार निमित्त है। किन्तु जगत् उत्पत्ति में तो ब्रह्म ही उपादान कारण है, ब्रह्म ही निमित्त कारण है। स्वयं ही बने, स्वयं ही बनाये-यह कैसे सम्भव है। जैसे मकड़ी अपने जाले के प्रति स्वयं ही उपादान है, स्वयं ही निमित्त है। जब परमात्मा की सृष्टि का छोटा सा कीड़ा दोनों काम स्वयं कर सकता है, तब ब्रह्म क्यों नहीं ?

कारण के समान सत्ता वाला कार्य परिणाम कहलाता है। कारण के विपरीत सत्तावाला कार्य विवर्त कहलाता है। विवर्त से तात्पर्य है एक प्रतीयमान, भ्रान्तिजनक रूप, अविद्या या मानव की भ्रान्ति से उत्पन्न मिथ्या रूप। जैसे सर्प रस्सी का विवर्त है वैसे ही यह संसार पर ब्रह्म का विवर्त है।

माया के द्वारा उत्पन्न जगत् में माया जैसे गुण हैं। माया त्रिगुणमयी है तो जगत् भी त्रिगुणमय है। अतः जगत् माया का परिणाम है, ब्रह्म से विपरीत सत्ता वाला है। अतः यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है।

मूलम्-तमोगुणप्रधान मायोपहितात्, ब्रह्मणः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोस्तेजः, तेजसआपः, अद्भ्यः पृथिवी।

व्याख्या-तमोगुणप्रधान माया से उपहित ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ

आकाशात् वायुः = आकाश से वायु

वायोः तेजः = वायु से तेज

तेजस आपः = तेज से जल

अद्भ्यः पृथिवी = जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई।

ब्रह्म के आश्रित रहकर माया त्रिगुणमयी होकर जगत् का विस्तार करती है, पहले सूक्ष्म पंचभूत हुए (आकाश-वायु-तेज-जल-पृथ्वी) इनकी तन्मात्राएँ

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध हैं, ये सब सूक्ष्म हैं। इनसे स्थूल पंचभूत उत्पन्न हुए जो हमें दिखते हैं। आकाश से पृथ्वी तक इनमें तीनों गुण हैं। परन्तु आकाश में सत्त्व अधिक है रजस् तथा तमस् कम हैं। वायु में रज तथा तम बढ़ गये अतः वायु में गति है। अग्नि में रज व तम गुण और बढ़े अतः अग्नि स्थूल हो दिखने लगी। जल में सत्त्व घटा, तम बढ़ा अतः यह द्रवीभूत रहता है। पृथ्वी में सत्त्व सबसे कम, तम सबसे अधिक है।

ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति

मूलम्-एतेषां पञ्चतत्वानां मध्ये आकाशस्य सात्विकांशाच्छोत्रेन्द्रियं सम्भूतम्।

इन पाँच तत्वों में से आकाश के सात्विक अंश से कान उत्पन्न हुए।

वायोः सात्विकांशात् त्वगिन्द्रियं संभूतम्।

वायु के सात्विक अंश से त्वचा उत्पन्न हुई।

अग्नेः सात्विकांशात् चक्षुरिन्द्रियं संभूतम्।

अग्नि के सात्विक अंश से चक्षु इन्द्रिय उत्पन्न हुई।

जलस्य सात्विकांशात् रसनेन्द्रियं सम्भूतम्।

जल के सात्विक अंश से जिह्वा उत्पन्न हुई।

पृथिव्याः सात्विकांशात् घ्राणेन्द्रियं सम्भूतम्।

पृथिवी के सात्विक अंश से नासिका उत्पन्न हुई।

सत्त्वगुण का लक्षण ज्ञान और सुख है।

ज्ञानेन्द्रियों का उपादान कारण सत्त्वगुण ही हुआ। ये ज्ञानेन्द्रियाँ पंचभूतों की तन्मात्राओं को ग्रहण करती हैं।

सूक्ष्ममहाभूत	तन्मात्रा	ज्ञानेन्द्रिय
आकाश	शब्द	कर्ण
वायु	स्पर्श	त्वचा
अग्नि	रुप	नेत्र
जल	रस	जिह्वा
पृथ्वी	गंध	नासिका

अन्तःकरण की उत्पत्ति

मूलम्– एतेषां पञ्चतत्वानां समष्टि सात्विकांशात् अन्तःकरणं सम्भूतम्। तत् च वृत्तिभेदात् मनो बुद्धयहंकार चित्तानि इति चतुर्धा।

मूलार्थ=इन तत्वों के सम्मिलित सात्विक अंश से अन्तःकरण उत्पन्न हुआ, और वह अन्तःकरण एक होने पर भी वृत्ति के भेद से मन–बुद्धि–चित्त और अंहकार रुप से चार प्रकार का हुआ।

ज्ञानेन्द्रियों से गृहीतविषय अन्तःकरण में जाते हैं पर कैसे? जैसे कि खिले हुए सुगन्धित नूतन सुन्दर पुष्प को देखने पर यह पुष्प नेत्र में या अन्तःकरण में नहीं जाता अपितु इसके सौंदर्य और सुगन्ध की संवेदना अन्दर पहुँच जाती है।

अन्तःकरण एक वृत्ति रुप है, स्क्रीन है। पुष्प देखने पर पुष्पाकार बन गया, घट देखने पर घटाकार हो गया। यद्यपि अन्तःकरण एक है तदापि इसके वृत्तिभेद से चार नाम हो गए। 1. मन 2. बुद्धि 3. चित्त और 4. अहंकार।

मूलम् १. मनः=संकल्पविकल्पात्मकं मनः।

मूलार्थ=संकल्पविकल्प करने वाला मन है।

किसी वस्तु का संदिग्ध (संशयात्मक) ज्ञान कराने वाली अन्तःकरण की वृत्ति को मन कहते हैं। यह है या वह है, करुँ न करुँ, होगा या नहीं होगा,

जाऊँ कि न जाऊँ, मिलें कि न मिलें आदि।

मूलम् २. बुद्धिः-निश्चयात्मिका बुद्धिः।

मूलार्थ=निश्चय करने वाली वृत्ति बुद्धि है।

संशयात्मक ज्ञान जब निश्चयात्मक रुप ले ले, असंदिग्ध हो जाए तब अन्तःकरण की संज्ञा बुद्धि हो जाती है। जैसे रात्रि के अंधेरे में पड़ी रस्सी को देख संशय था (संकल्प-विकल्प था) रस्सी है या सर्प। समीप जाकर निश्चय हुआ रस्सी ही है। यह निश्चयात्मक अन्तःकरण की 'बुद्धि' संज्ञा है।

मूलम्-३ चित्तम्-चिन्तनकर्तृ चित्तम्।

मूलार्थ=चिन्तन करने वाली वृत्ति चित्त है।

चित्त में संग्रहीत पूर्व अनुभवों का स्मरण करना, चिन्तन करना चित्त कहलाता है। यह बुद्धि की सहायक है।

मूलम्-४. अहंकारः-अहंकर्ता अहंकारः।

मूलार्थ='मैं' का भाव अहंकार है।

मन-बुद्धि से होने वाले प्रत्येक ज्ञान को ग्रहण करने वाली एक वृत्ति है, जिसे अहंकार कहते हैं। अन्तःकरण की वृत्ति जो अनुभव करे कि मैंने घट को जाना, मैंने किया, देखा, खाया, वह अहंकार है। अहंकार ही कर्ता-भोक्ता-ज्ञा है। अहंकार स्थायी वृत्ति है। इसके सामने मन-बुद्धि-चित्त की वृत्तियाँ आती-जाती रहती हैं। इनसे सम्पन्न ज्ञान को अहंकार ही ग्रहण करता है।

मूलम्-मनसो देवता चन्द्रमाः =मन का देवता चन्द्रमा है।

बुद्धेर्ब्रह्मा = बुद्धि का देवता ब्रह्मा है।

अहंकारस्य रुद्रः = अहंकार का देवता रुद्र है।

चित्तस्य वासुदेवः = चित्त का देवता वासुदेव है।

मन का ज्ञान चन्द्र की तरह अस्थिर, घटने-बढ़ने वाला व धूमिल सा है।

जो गुण मन के देवता चन्द्रमा के हैं वही उसके चेला मन के हैं। बुद्धि ब्रह्मा के समान स्पष्ट ज्ञानवाली है, अपने देवता के अनुरुप रचनात्मक कार्य करने वाली है। अहंकार रुद्र की तरह विध्वसंक है किन्तु अन्तर्मुखी हो वह शिववत् कल्याण कारक भी है। चित्त वासुदेव के समान हमारा पालक-रक्षक है।

मन	बुद्धि	चित्त	अहंकार
संकल्प-विकल्प · चन्द्र	निश्चय ब्रह्मा	चिन्तन वासुदेव	अभिमान रुद्र

कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति

मूलम्- एतेषां पञ्चतत्त्वानां मध्ये आकाशस्य राजसांशात् वागिन्द्रियं सम्भूतम्।

इन पाँचों तत्त्वों में से आकाश के राजस अंश से वाणी उत्पन्न हुई।

वायोः राजसांशात् पाणीन्द्रियं संभूतम्।

वायु के राजस् अंश से हाथ उत्पन्न हुए।

वह्नेः राजसांशात् पादेन्द्रियं सम्भूतम्।

अग्नि के राजस् अंश से पैर उत्पन्न हुए।

जलस्य राजसांशात् उपस्थेन्द्रियं सम्भूतम्।

जल के राजस् अंश से उपस्थ (जननेन्द्रिय) उत्पन्न हुए।

पृथिव्याः राजसांशात् गुदेन्द्रियं सम्भूतम्।

पृथ्वी के राजस् अंश से गुदा उत्पन्न हुई।

पाँच महाभूतों के सात्विक अंश से ज्ञानेन्द्रियाँ हुईं। तो पाँच महाभूतों के राजस अंश से कर्मेन्द्रियाँ हुईं। रजोगुण क्रियात्मक है, अतः उससे कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई।

एतेषां समष्टि राजसांशात् पञ्चप्राणाः संभूताः।

मूलार्थ=इन पाँचों तत्वों के समष्टि राजस अंशों से पाँच प्राण उत्पन्न हुए।

यद्यपि प्राण एक है तथापि इसके भिन्न-भिन्न कर्म होने के कारण यह

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान इन पाँच नामों से जाना जाता है।

मूलम्- एतेषां पञ्चतत्त्वानां तामसाशांत् पंचीकृत पंचतत्त्वानि भवन्ति।

मूलार्थ=इन पाँचों तत्त्वों के तामस अंश से पंचीकृत पाँच तत्त्व उत्पन्न हुए, जिन्हें हम बाहर जगत् में देखते हैं। इस रचना में पंचीकरण की प्रक्रिया काम करती है।

जिस प्रकार सूक्ष्मपंचमहाभूतों के सात्विक अंश से ज्ञानेन्द्रियाँ, समष्टिसात्विकांश से अन्तःकरण; राजसांश से कर्मेन्द्रियाँ तथा समष्टि राजसांश से पाँच प्राण हुए वैसे ही सूक्ष्म पाँच महाभूतों के तामस अंश से पंचीकृत पंचमहाभूत उत्पन्न हुए हैं।

सूक्ष्म तत्त्व 'अपंचीकृतमहाभूत' (शुद्ध) कहलाते हैं।

स्थूल तत्त्व 'पंचीकृतमहाभूत' कहलाते हैं।

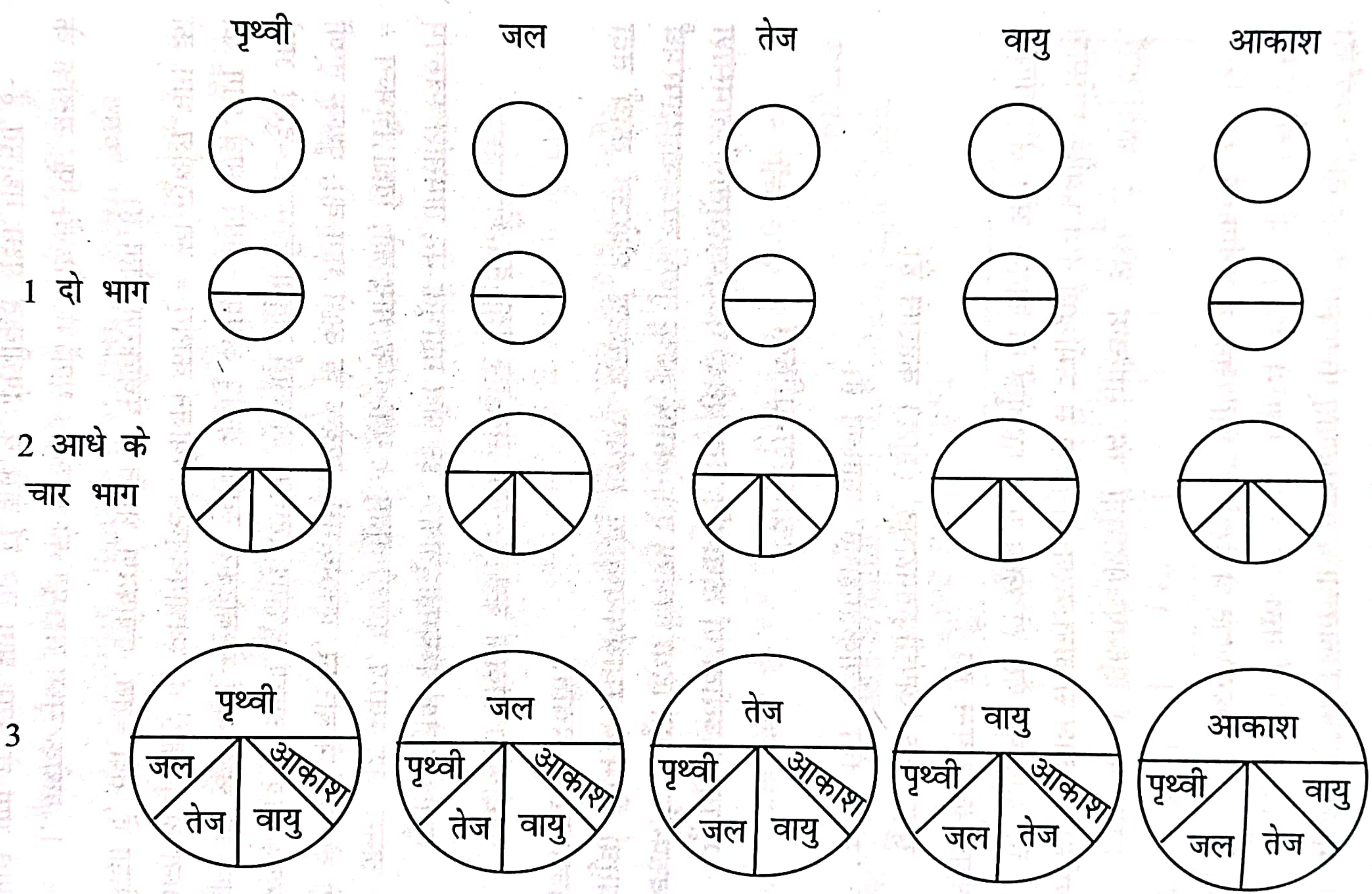
पंचीकरण-प्रक्रिया

मूलम्- पञ्चीकरणं कथमिति चेत्। एतेषां पञ्चमहाभूतानां तामसांश स्वरुपमेकैकं भूतं द्विधा विभज्य एकमेकमर्धं पृथक् तूष्णीं व्यवस्थाप्यापरमर्धं चतुर्धा विभज्य स्वार्धमन्येष्वर्धेषु स्वभाग चतुष्टयं संयोजनं कार्यं तदा पञ्चीकरणं भवति।

पञ्चीकरण प्रक्रिया क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं-

मूलार्थ=एतेषां पञ्चमहाभूतानां = इन पाँच महाभूतों के, तामसांश स्वरुपम् = तामस अंश स्वरुप, एकैकं भूतम् = एक-एक भाग को, द्विधा विभज्य = दो-दो भागों में बाँटकर, एकमेकमर्धं- प्रत्येक के आधे भाग को, पृथक् तूष्णीं व्यवस्थापय = अलग चुपचाप रखकर, अपरमर्धं चतुर्धा विभज्य =दूसरे आधे भाग को चार भागों में बांटकर, स्वार्धं अन्येषु अर्धेषु =अपने आधे भाग को अन्य आधे भागों में, स्वभागचतुष्टयं संयोजनं कार्यम् = स्वचतुर्थांश भाग को मिला दें, तदा =तब, पंचीकरणं भवति = पंचीकरण होता है।

1. प्रत्येक सूक्ष्म महाभूत को पहले दो भागों में बाँट लें। फिर प्रत्येक के आधे भाग के चार भाग कर लें जैसे ये अंपचीकृत सूक्ष्म महाभूत हैं-


पृथ्वी
जल
तेज
वायु
आकाश
1 दो भाग
2 आधे के चार भाग
3
पृथ्वी
जल
तेज
वायु
आकाश
जल
पृथ्वी
तेज
वायु
आकाश
तेज
पृथ्वी
जल
वायु
आकाश
वायु
पृथ्वी
जल
तेज
आकाश
आकाश
पृथ्वी
जल
तेज
वायु

ये पंचीकृत महाभूत हैं (स्थूल महाभूत हैं)

1. प्रत्येक महाभूत के तामसांश को दो भागों में बाँट दें।

2. प्रत्येक के एक आधे भाग को अलग रख दें और दूसरे आधे भाग को चार भागों में बाँट लें।

3. अब प्रत्येक तत्त्व के आधे भाग में शेष चारों तत्त्वों के एक-एक भाग को मिला दें। इस प्रकार $\frac{1}{2}$ स्वभाग और

पृथ्वी = $\frac{1}{2} + \frac{1}{8} + \frac{1}{8} + \frac{1}{8} + \frac{1}{8}$ = पूर्ण पंचीकृत पृथ्वी

पृथ्वी जल तेज वायु आकाश

जल= $\frac{1}{2} + \frac{1}{8} + \frac{1}{8} + \frac{1}{8} + \frac{1}{8}$ = पूर्ण पंचीकृत जल

जल पृथ्वी तेज वायु आकाश

तेज= $\frac{1}{2} + \frac{1}{8} + \frac{1}{8} + \frac{1}{8} + \frac{1}{8}$ = पूर्ण पंचीकृत तेज

तेज पृथ्वी जल वायु आकाश

वायु= $\frac{1}{2} + \frac{1}{8} + \frac{1}{8} + \frac{1}{8} + \frac{1}{8}$ = पूर्ण पंचीकृत वायु

वायु पृथ्वी जल तेज आकाश

आकाश= $\frac{1}{2} + \frac{1}{8} + \frac{1}{8} + \frac{1}{8} + \frac{1}{8}$

= पूर्ण पंचीकृत आकाश

आकाश पृथ्वी जल तेज वायु

अब हम जिस पृथ्वी पर हैं वह पृथ्वी स्थूल है- और केवल पृथ्वी ही नहीं; अपितु आधी पृथ्वी है इसमें आठवाँ हिस्सा अग्नि है, वायु है, जल है, नभ भी है। जो जल हम देख रहे हैं वह स्थूलपंचीकृत जल है। इसमें आधा ही जल है-आठवाँ भाग पृथ्वी है, आठवां तेज, वायु, नभ भी है। इसीलिए आज विज्ञान वायु से, जल से, पृथ्वी के कचरे से बिजली निकाल रहा है।

माया विशिष्ट ब्रह्म चैतन्य से क्रमशः पाँच तत्त्व उत्पन्न हुए जो सूक्ष्म व शुद्ध थे, अपंचीकृत थे। स्थूल सृष्टि निर्माण के लिए संकल्प से परमात्मा इन्हें पंचीकृत बना देते हैं, स्थूल बना देते हैं। वह पंचीकरण कैसे होता है इस बात को एक संत ऐसे बताते थे। पाँच मित्र थे। उनमें से एक पर केला, एक पर सेब, अन्य पर अनार, संतरा-चीकू थे। सबमें बड़ा प्रेम था अतः सबने अपने-अपने फल के दो-दो भाग कर लिए। एक आधा हिस्सा अपने लिए रखकर शेष आधे को चार भाग में काटकर चारों को एक-एक टुकड़ा बाँट दिया। पाँचों मित्रों ने यही प्रक्रिया की। अन्त में देखा तो सबके पास में सब फल आ गए जैसे केला वाले के पास 1/2 केला + 1/8 सेब, 1/8 अनार, 1/8 संतरा, 1/8 चीकू था। सब खूब प्रसन्न हुए। इसी प्रकार पंचभूतों का बंटवारा है। अपने भाग की अधिकता के कारण ही ये अपने-अपने नाम से कहलाते हैं। ब्रह्मसूत्र में वेदव्यास कहते हैं-

'वैशेष्यात् तु तद्वादस्तद्वादः' (2/4/22)

जिस भूत में अपना भाग अधिक है, उसे उसी नाम से जाना जाता है।

मूलम्- एतेम्यः पञ्चीकृतपंचमहाभूतेम्यः स्थूलशरीरं भवति।

मूलार्थ=इन पंचीकृत पंचमहाभूतों से स्थूलशरीर बना है।

मूलम्- एवं पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं संभूतम्।

मूलार्थ=इस प्रकार पिण्ड (शरीर) और ब्रह्माण्ड में एकता है।

जैसे स्थूलमहाभूतों से वनस्पति अन्न होता है। उस अन्न से हमारा अन्नमय कोश (स्थूल शरीर) होता है। इसमें प्राण, इन्द्रियाँ हैं। मन-बुद्धि है अर्थात् स्थूल में ही सूक्ष्म, कारण शरीर है। इसी तरह ब्रह्माण्ड में स्थूलजगत् उसमें सूक्ष्म प्राण, माया आदि हैं।

एक व्यक्ति का शरीर पिण्ड कहलाता है।

समस्त शरीरों का समुच्चय ब्रह्माण्ड कहलाता है।

चार प्रकार का स्थूलशरीर, तथा चौदह भुवन युक्त ब्रह्माण्ड इन्हीं पंचीकृत पंचमहाभूतों की रचना है।

४ जीव और ईश्वर

मूलम्- स्थूलशरीराभिमानी जीवनामकं ब्रह्मप्रतिबिम्बं भवति। स एव जीवः प्रकृत्या स्वस्मात् ईश्वरं भिन्नत्वेन जानाति।

मूलार्थ=स्थूलशरीराभिमानी = स्थूलशरीर [अन्नमयकोश] में अभिमान करने वाला, ब्रह्मप्रतिबिम्बं = ब्रह्म का प्रतिबिम्ब, जीवनामकं भवति = जीव नाम से कहा जाता है। स एव जीवः = वही जीव, प्रकृत्या = (अविद्या के कारण) स्वभाववश, ईश्वरं = ईश्वर को, स्वस्मात् = अपने से, भिन्नत्वेन = भिन्न रुप में, जानाति = जानता है।

अन्तःकरण में जो अहंवृत्ति पैदा होती है वह ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही है। स्थूल शरीर से तादात्म्यवश वह जीव कहलाता है। अविद्यावश यह जीव स्वयं को अन्य जीवों से भिन्न मानता है। ईश्वर तथा अपने में भेद मानता है। ईश्वर को स्वामी, स्वयं को सेवक; ईश्वर को शासक, स्वयं को शासित; ईश्वर को कर्मफलप्रदाता और स्वयं को कर्मकर्त्ता मानता है; ईश्वर को स्वतन्त्र, स्वयं को परतन्त्र मानता है। जबकि जीव अपनी उपाधियाँ हटा दे तो वह शुद्ध ब्रह्म ही है। ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है।

मूलम्- अविद्योपाधिःसन् आत्मा जीव इत्युच्यते। मायोपाधिः सन् ईश्वर इत्युच्यते।

मूलार्थ=यह आत्मा अविद्या की उपाधि से जीव कहा जाता है। यही आत्मा माया की उपाधि से ईश्वर कहलाता है। एक ब्रह्म ही उपाधि के भेद से जीव व ईश्वर कहलाता है। मलिन सत्त्व में परिच्छिन्न आत्मा अपने आपको नहीं जानता; अतः अविद्या की उपाधि से घिरा जीव कहलाता है।

शुद्ध सत्त्वमयी माया की उपाधि में अज्ञान नहीं होता अपितु माया शक्ति से जगत् को रचकर शासक बनता है। इस तरह आत्मा ईश्वर है।

मूलम्-एवं उपाधिभेदात् जीवेश्वरभेददृष्टिः यावत्पर्यन्तं तिष्ठति तावत्पर्यन्तं जन्ममरणादिरुप संसारो न निवर्तते।

मूलार्थ=एवं =इस प्रकार, उपाधिभेदात् =उपाधिभेदसे, जीवेश्वरभेददृष्टिः = जीव और ईश्वर में भेद दृष्टि, यावत्पर्यन्तं = जब तक, तिष्ठति = बनी रहती है, तावत्पर्यन्तं = तब तक, जन्ममरणादिरुप = जन्म-मरणरुपात्मक, संसारो न निवर्तते = यह संसार नहीं हटता।

जब तक अविद्या की उपाधि से जीवभाव रहेगा तब तक शुभाशुभ कर्म होंगे, कर्मों के फल भोगने के साधन व आश्रय विविध शरीर भी प्राप्त होते रहेंगे। यही जन्म-मरण का क्रम सतत चलता रहेगा। [पुनरपिजननं पुनरपि मरणं]

मूलम् = तस्मात्कारणात् न जीवेश्वरयोर्भेद बुद्धि स्वीकार्या।

मूलार्थ=तस्मात् कारणात् = इसीलिए, जीव-ईश्वरयोः = जीव और ईश्वर में, भेदबुद्धिः न स्वीकार्या = भेदबुद्धि स्वीकार नहीं करनी चाहिए। जीव ही ईश्वर है, ईश्वर ही जीव है।

जीव-ईश्वर का भेद अज्ञान के कारण है। यह अज्ञान मिट जाये तो नानात्व का भ्रम मिट जाये। सर्वत्र व्याप्त, अखण्ड, एक रस, निर्विकार आत्मा का साक्षात् अनुभव हो।

यह जो विचार चला कि अविद्या की उपाधि से उपहित (युक्त) ब्रह्म जीव कहलाता है और माया उपाधि से युक्त ईश्वर कहलाता है।

ये दोनों भेद माया के ही हैं-

1. मलिन सत्त्वप्रधान को अविद्या तथा

2. शुद्ध सत्त्वप्रधान को माया कहा जाता है।

यद्यपि अविद्या में भी सत्त्व है; परन्तु वह सत्त्व रज-तम द्वारा युक्त है अतः मलिन सत्त्व कहा। जबकि माया में स्थित सत्त्वांश कभी रज-तम से दबता नहीं है अपितु रज और तम को दबाए रहता है। इसीलिए माया को शुद्धसत्त्वप्रधान कहा है।

स्वस्वरुप (आत्मा) दर्शन में जीव को आवरण-संशय-भ्रम बाधक बनते हैं। इस बाधा को दूर करने के लिए ही शास्त्रोपदेश है, सत्संग, सद्गुरु की आवश्यकता रहती है।

जबकि विशुद्ध सत्त्वप्रधान मायोपाधि वाले ईश्वर को स्वस्वरुप का, समस्त विश्व का सदैव साक्षात्कार बना रहता है। वहाँ कभी संशय-भ्रम-आवरण नहीं होते। इसीलिए ईश्वर को शास्त्रोपदेश की आवश्यकता नहीं होती। ब्रह्मज्ञानोपरान्त ये समस्तशास्त्र बाह्य व्यवहार में उपयोगी न रहकर आत्मसात् कर लिए जाते हैं।

गुरु-शिष्य व शास्त्र-व्यवहार अविद्या दशा तक ही हैं। अबोध बालक के जीवन में चलना प्रारम्भ करने की दशा में गड्डूलना (तीन पैर का खिलौना जिसे पकड़कर बालक चलना सीखता है) उपयोगी होता है; किन्तु चलना आने पर वह सहायक साधन छोड़ना नहीं पड़ता, स्वतः छुट जाता है।

५. तत्त्वमसि

तत् त्वम् असि — Thou Art That

वह तुम हो

तुम वही हो

वही तुम हो

यह महावाक्य है, यद्यपि देखने में लघु है यह वाक्य; परन्तु भावगाम्भीर्य के कारण महावाक्य कहलाया है।

गुरु ने जिज्ञासु शिष्य से कहा-तुम वही हो अर्थात् तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध चैतन्य स्वरुप आत्मा हो। सुनकर शिष्य संदेह में पड़ गया, अनमना हो उठा, उठकर चला गया; सोचता रहा कैसे हो सकता है यह। मैं तो अल्पज्ञ हूँ, ब्रह्म सर्वज्ञ है; मैं अल्पशक्तिमान हूँ वह सर्वशक्तिमान; मैं एक देश में हूँ, वह ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है; मैं विकारी हूँ वह निर्विकार;-असम्भव यह नहीं हो सकता। लौटकर पुनः गुरु के पास आया। गुरु ने देखा मुखमण्डल पर असंतोष और उलझन के भाव हैं। अतः आते ही पुनः चोट कर दी (अयमात्मा ब्रह्म) यह आत्मा ब्रह्म है। बेचारा शिष्य अपनी बात तक न कह सका। चुपचाप चला गया। दिन का चैन, रात की नींद, भूख-प्यास उड़ गई। सोचता रहा, परन्तु समाधान नहीं निकला। किन्तु गुरु ने कितने शांतभाव से प्रसन्नतापूर्वक विश्वासभरी वाणी में साधिकार कहा 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म'-अवश्य रहस्य की बात है जिसे मैं समझ न सका। चलूँ उन्हीं के पास। पुनः लौटा। अब चेहरे पर दीनता है, लाचारी है, समर्पण का भाव है। परन्तु आते ही गुरु ने फिर चोटकर दी (प्रज्ञानं ब्रह्म) प्रकृष्ट ज्ञान ही ब्रह्म है। शिष्य कुछ क्षण ठहरा फिर चला गया। गुरु उसके आन्तरिक परिवर्तन को देख रहे थे। उसके मन-मस्तिष्क में यही घूमता रहता, हर पल दिशाओं में एक ही आवाज गूँजती रहती- तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म। वह लौटकर गुरु के पास नहीं आया। जप-तप, व्रत, तीर्थयात्रा, पर्वत, गुफा, नदी, सागर सब छान मारे। वर्षों तक इन महामंत्रों की गूँज ने उसका पीछा न छोड़ा।

एक दिन एकान्त में चिंतन चल रहा था। अचानक प्रकाश-पुंज ने उसकी चेतना से ऐक्य बनाया और यह क्या! वह जिज्ञासु झूम उठा और उसके मुख से सिंह सी गर्जना हुई-'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ'। वह घूमता-फिरता वर्षों बाद अत्यन्त आनंदित खिला हुआ गुरु के समीप पहुँचा- गुरु तो जान गए कि मेरा बोया बीज अब अंकुरित हो चुका है।

मूलम्-प्रश्नम्- ननु साहंकारस्य किंचित् ज्ञस्य जीवस्य निरहंकारस्य सर्वज्ञस्य ईश्वरस्य तत्त्वमसि इति महावाक्यात् कथमभेद्बुद्धिः स्यात् उभयोः विरूद्धधर्माक्रान्तत्वात्।

मूलार्थ=ननु साहंकारस्य किंचित् ज्ञस्य जीवस्य = किन्तु अहंकार वाले अल्पज्ञ जीव का, निरंहकारस्य सर्वज्ञस्य ईश्वरस्य = अहंकार रहित सर्वज्ञ ईश्वर का, तत्त्वमसि इति महावाक्यात् = तत्त्वमसि (तुम वही हो) इस महावाक्य द्वारा, कथमभेदबुद्धिः = कैसे अभेद बुद्धि, स्यात् = होवे, उभयोः=दोनों के, विरूद्ध धर्माक्रान्तत्वात् = परस्पर विरोधी धर्मों से युक्त होने के कारण।

मूलम्-उत्तरम्-इति चेत् न। स्थूल सूक्ष्म शरीराभिमानी त्वं पद वाच्यार्थः। उपाधिविनिर्मुक्तं समाधिदशा सम्पन्नं शुद्धं चैतन्यं त्वं पदलक्ष्यार्थः।

मूलार्थ=इति चेत् न = ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। स्थूलसूक्ष्मशरीराभिमानी त्वं पदवाच्यार्थः = त्वं पद का वाच्यार्थ अर्थात् शाब्दिक अर्थ है जीव जो स्थूल व सूक्ष्म शरीर का अभिमानी है। उपाधि विनिर्मुक्तं = किन्तु उपाधियों से रहित, समाधिदशासम्पन्नं शुद्धं चैतन्यं = समाधिदशा में समुपलब्ध अनुभूत शुद्ध चैतन्य, त्वं पद लक्ष्यार्थः = त्वं पद का लक्ष्यार्थ है।

अर्थ ज्ञान के लिए तीन शब्द शक्तियों का आश्रय लिया जाता है-

1. अमिधा शक्ति जो वाच्यार्थ का बोध कराती है।

2. लक्षणाशक्ति जो लक्ष्यार्थ का ज्ञान कराती है।

3. व्यञ्जना शक्ति जो व्यङ्गयार्थ का ज्ञान कराती है।

जैसे 'गङ्गायां घोषः-गङ्गा में झोपड़ी है यह जो अर्थ है यह वाच्यार्थ है जो असम्भव है। गङ्गा अर्थात् जलप्रवाह में झोपड़ी ठहर नहीं सकती-जब वाच्यार्थ से बात नहीं बनी तो लक्ष्यार्थ लिया गया कहा भाई ! गंगा का अर्थ जलधारा मत करो, जलधारा से सटा हुआ 'तट' करो। तब गङ्गायां घोषः इसका अर्थ हुआ गंगा के किनारे झोपड़ी है। यह 'तट' जो अर्थ मिला वह लक्षणा से मिला फिर शीतत्व पावनत्व आदि की प्राप्ति का भाव रखकर व्यञ्जना को भी माना है।

ऐसे ही-वाह भई ! आज तो मंच गरज रहे हैं 'मंचाः क्रोशन्ति' यह वाच्यार्थ है-जबकि मंच तो जड़ हैं गरजने की क्रिया किसी चेतन में ही हो सकती है। अतः लक्षणा से लक्ष्यार्थ लिया-मंच पर बैठे वक्ता गरज रहे हैं।

इसी प्रकार यहां 'तत्त्वमसि' में भी वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ को समझें-

तत् = वह तत्देशविशिष्ट

त्वम् = तुम एतत्देशविशिष्ट

असि = हो सत्तार्थक

यहाँ त्वम् पद का वाच्यार्थ है जीवात्मा, जो कि स्थूल व सूक्ष्म शरीर को ही अपना स्वरूप समझता है।

त्वं पद का लक्ष्यार्थ है-शुद्ध चैतन्य (ब्रह्म) जो अविद्या के कार्यों से मुक्त है। जो समाधि में चित्तवृत्तियों के शान्त होने पर अनुभव में आता है।

त्वं	वाच्यार्थ	जीव, अविद्योपाधियुक्त
त्वं	लक्ष्यार्थ	शुद्ध ब्रह्म
तत्	वाच्यार्थ	मायोपाधिक ईश्वर
तत्	लक्ष्यार्थ	उपाधिशून्य शुद्ध चैतन्य

तत् और त्वं पद के वाच्यार्थों को छोड़कर लक्ष्यार्थ को ले लें तो शुद्ध चैतन्य बचता है, इसी को भाग-त्याग लक्षणा कहते हैं। जहाँ कुछ भाग त्याग

कर अर्थबोध हो, वह भाग-त्याग है।

मूलम्-एवं सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ईश्वरः तत्पदवाच्यार्थः।

उपाधिशून्यं शुद्धचैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थः।

मूलार्थ=इस प्रकार सर्वज्ञत्व आदि से युक्त ईश्वर 'तत्' पद का वाच्यार्थ है।

उपाधिशून्य शुद्ध चैतन्य 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ है।

मूलम्-एवं च जीवेश्वरयोः चैतन्यरूपेणाऽभेदे बाधकाभावः।

मूलार्थ=एवं च = और इस प्रकार जीवेश्वरयोः = जीव और ईश्वर में, चैतन्यरूपेण = चैतन्य रूप से, अभेदे = अभिन्नता होने में, बाधकाऽभावः = बाधा का अभाव है, अर्थात् ये दोनों चैतन्यरूप से एक हैं, इसमें कोई बाधा ा नहीं।

चैतन्य आत्मा + अविद्या उपाधि = जीव

चैतन्य आत्मा + माया उपाधि = ईश्वर

परन्तु मूलतः दोनों ही चैतन्य आत्मा हैं।

कहते हैं 'तत् त्वं' में जहत्लक्षणा (अपने मुख्यार्थ को छोड़ने वाली) नहीं लगेगी क्योंकि दोनों एक ही हैं। यहाँ अजहत् लक्षणा (अपने मुख्यार्थ को न छोड़ने वाली) भी नहीं लग सकती क्योंकि दोनों में विरोध है।

यहाँ तो 'स अयं देवदत्तः' पद की भाँति दोष-रहित होने से भागत्यागलक्षणा उचित है।

एकात्मत्वात् जहती न सम्भवेत् तथा अजहल्लक्षणा विरोधतः।

सोऽयं पदार्थाविव भागलक्षणा युज्येत् तत्त्वं पदयोरदोषतः।। -(रामगीता)

अन्नपूर्णोपनिषत् में कहते हैं-

''यावत्सर्वं न संत्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते।

सर्ववस्तुपरित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते''।।

जब तक सब कुछ नहीं त्यागा जायेगा तब तक आत्मा प्राप्त नहीं हो सकता। जब सब त्याग दिया जायेगा तब जो शेष बचेगा वह आत्मा ही होगा। क्योंकि आत्मा त्यागा जा नहीं सकता, वह तो स्वस्वरूप है। वही तो आत्मभिन्न (चैतन्यभिन्न) जड़ पदार्थों को त्याग रहा है।

६. जीवन्मुक्तः

मूलम् -एवं च वेदान्तवाक्यैः सदगुरूपदेशेन च सर्वेष्वपि भूतेषु येषां ब्रह्मबुद्धिरुत्पन्ना ते जीवन्मुक्ताः इत्यर्थः।

मूलार्थ=एवं च = और इस प्रकार, वेदान्तवाक्यैः = 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त वाक्यों से, सदगुरूपदेशेन च = तथा सद्गुरू के उपदेश से, सर्वेषु अपि भूतेषु = सभी प्राणियों में, येषां = जिनकी, ब्रह्मबुद्धिः उत्पन्ना = ब्रह्म-बुद्धि उत्पन्न हो गई है, ते = वे, जीवन्मुक्ताः इत्यर्थः =वे ज़ीवन्मुक्त हैं, ऐसा अर्थ है।

जीवन्मुक्त, श्रोत्रिय ब्रह्म-निष्ठ, शास्त्रनिष्ठ, वर्णाश्रमपरम्परा-पालन-प्रवीण, सद्गुरू द्वारा साधन चतुष्ट्य सम्पन्न अधिकारियों को वेदान्तवाक्यों द्वारा (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या) (सर्वं खल्विदम् ब्रह्म) (ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है, सब कुछ ये ब्रह्म ही है) दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान हो गया है, वे जीवन्मुक्त हैं। अविद्या तथा उसके कार्यरूप बन्धन से मुक्त हैं। तत्त्वज्ञानी प्रारब्धभोगनाश तक जीवन्मुक्त ही हैं।

मुक्ति दो प्रकार की है 1. जीवन्मुक्ति 2. विदेहमुक्ति।

जीते जी समस्त बंधनों से मुक्त, आत्मज्ञान के प्रकाश से आलोकित, सर्वविधक्लेशों से रहित, अन्तर्बाह्य प्रसन्न ही जीवन्मुक्त है। जो जीवन्मुक्त है उसे विदेहमुक्ति भी मिलनी ही है। नानात्व की प्रतीति बंधन है। एकत्व की प्रतीति मुक्ति है।

जीवन्मुक्त के लक्षण

मूलम्-यथा देहोऽहं पुरूषोऽहं ब्राह्मणोऽहं शूद्रोऽहमस्मीति दृढ़निश्चयस्तथा नाहं ब्राह्मणः न शूद्रः न पुरुषः किन्तु असंगः सच्चिदानन्दस्वरूपः प्रकाशरूपः सर्वान्तर्यामी चिदाकाशरूपोऽस्मीति दृढ़निश्चय रूपोऽपरोक्षज्ञानवान् जीवन्मुक्तः।

मूलार्थ=यथा = जैसे, देहः अहम् = मैं शरीर, अहं पुरुषः = मैं पुरुष, अहं ब्राह्मणः = मैं ब्राह्मण, अहं शूद्रः = मैं शूद्र, अस्मि = हूँ, इति दृढ़ निश्चयः = ऐसा दृढ़ निश्चय रहता है, तथा = वैसे ही, नाहं ब्राह्मणः = मैं ब्राह्मण नहीं, न शूद्रः न पुरुषः = शूद्र और पुरुष भी मैं नहीं, किन्तु असंगः = किन्तु देहादि प्रपञ्च समूह से जुड़ा नहीं हूँ, सच्चिदानन्दस्वरूपः = सत् चित् आनन्दस्वरूप, प्रकाशरूपः सर्वान्तर्यामी = प्रकाशरूप सर्वान्तर्यामी, चिदाकाशरूपः अस्मि = चिदाकाश रूप हूँ, इति दृढ़ निश्चय रूपः = ऐसे दृढ़ निश्चय वाला, अपरोक्षज्ञानवान् = साक्षात् ज्ञानवाला महापुरूष जीवन्मुक्त होता है।

जिस प्रकार प्राणी को दृढ़तापूर्वक यह ज्ञान है कि मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, गोरा-काला, विद्वान-मूर्ख, विप्र-शूद्र हूँ। उतनी ही दृढ़ता से यह बोध हो जाये कि मैं स्त्री-पुरूष, विप्र-शूद्र, विद्वान-मूर्ख नहीं हूँ मैं तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ। जगत्द्वारा कृत मान-अपमान मेरा नहीं, मेरे शरीरका है, लाभहानि, जय-पराजय, मुझे स्पर्श भी नहीं कर सकती। सुख-दुःख से मेरा कोई नाता नहीं है।

प्रश्न उठता है-ब्रह्म (आत्मा) के अपरोक्ष (साक्षात्) ज्ञान से अविद्या तथा उसके कार्य नष्ट हो जाते हैं। तब तो ये मुक्त कहलायेगा न कि जीवन्मुक्त। तब कहते हैं-

भाई ! ब्रह्मज्ञान से अज्ञान की आवरण-शक्ति का नाश होता है, जबकि अज्ञान की दूसरी शक्ति विक्षेप प्रारब्ध तक बची रहती है। अज्ञान की दो शक्तियाँ प्रसिद्ध हैं 1. आवरण शक्ति 2. विक्षेपशक्ति।

1. आवरणशक्ति वह शक्ति है जो चैतन्य सत्ता को ढक दे।

2. विक्षेप शक्ति वह है जो आच्छादित आत्मा में अन्य की उत्पत्ति करा दे।

जैसे रस्सी पड़ी थी यहाँ आवरण शक्ति ने रज्जु के स्वरूप को आवृत कर दिया, विक्षेप ने उसमें सर्प की उद्भावना कर दी। ब्रह्म सत्ता में आवरण ने पर्दा कर दिया, विक्षेप ने पिण्ड-ब्रह्माण्ड की उद्भावना कर दी।

आवरण-शक्ति के कारण ब्रह्म व आत्मा की एकता का भान नहीं होता और विक्षेप शक्ति के कारण 'मैं ब्रह्म हूँ' इसकी जगह 'मैं शरीर हूँ' 'पुरुष-स्त्री हूँ' ये भ्रान्तिजन्य बोध रहता है। तत्वज्ञान होते ही आवरण तो मिट जाता है। विक्षेप बाधित होने पर भी प्रारब्धवश भासता रहता है। इससे अनर्थ नहीं हो पाता क्योंकि 'मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ' ऐसा दृढ़ अपरोक्ष निश्चय बना रहता है, ऐसे तत्त्वज्ञानी ही जीवन्मुक्त हैं।

परोक्ष-ज्ञान क्या है-शास्त्र श्रवण और गुरू के उपदेश से बुद्धि में ये धारणा बनी कि मैं आत्मा हूँ यह ज्ञान परोक्ष है। प्रत्यक्ष नहीं हुआ, साक्षात्कार नहीं हुआ। मान लिया गया, श्रवण से प्राप्त बोध ने विश्वास जगा दिया।

अपरोक्ष ज्ञान क्या है-श्रुत-ज्ञान के सहारे आत्म-स्वरूप का अनुसंधान कर जब हम आत्मा व ब्रह्म की एकता अनुभव कर लेते हैं तब यह ज्ञान अपरोक्ष कहलाता है।

७. कर्मबन्धन से मुक्ति

मूलम-ब्रह्मैवाहमस्मीत्यपरोक्षज्ञानेन निखिलकर्मबंधनविनिर्मुक्तः स्यात्।

मूलार्थ=ब्रह्मैवाहमस्मि = मैं ब्रह्म ही हूँ, इति अपरोक्ष ज्ञानेन = इस अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा, निखिलकर्मबंधन विनिर्मुक्तः स्यात् = समस्त कर्मबंधनों से मुक्त हो जाते हैं।

कर्मबंधन से मुक्ति ही आत्म-ज्ञान है। कर्त्तापन का अहसास ही कर्मबंध न है। कर्म में फलासक्ति का पुट होना ही कर्मबंधन है, मैं करता हूँ, मैंने किया, मैं करूँगा, मैने कराया, मैं कराऊँगा, मैनें बनाया, मैं बनाऊंगा, मैं न होता तो

क्या होता? आदि भाव ही बन्धन हैं। 'हो रहा है' की धारणा शान्ति देती है, 'कर रहा हूँ' की धारणा विचलित करती है। चाहत मिट जाये, किसी से भी अपेक्षा न रहे, मन में अभाव-वृत्ति न आए, प्रलोभन के कीचड़ से हृदय-कमल गंदा न होवे, स्वयं में पूर्णता का, आनंद का भाव रहे, यही मुक्ति है।

कर्मप्रकाराणि

प्रश्न-मूलम् = कर्माणि कतिविधानि सन्तीति चेत्।

मूलार्थ=कर्म कितने प्रकार के हैं? इसका उत्तर देते हैं-

उत्तर-मूलम् = आगामि सञ्चितप्रारब्धभेदेन त्रिविधानि सन्ति।

मूलार्थ=आगामी, सञ्चित, प्रारब्ध भेद से कर्म तीन प्रकार के हैं।

मन-वाणी और शरीर द्वारा कर्म-सम्पन्न होते हैं। कर्म पूर्ण होने पर एक बार को तो लगता है वह समाप्त हो गया, परन्तु वह समाप्त नहीं होता उसके संस्कार (वासना) चित्त-भित्ति पर अंकित हो जाते हैं।

वैसे तो अहंकार की वृत्ति ही कर्त्तापन के भाव के कारण कर्म-बंधन में बांधती है। अन्यथा पलक झपकने, पैर हिलने आदि क्रियाओं में कर्त्तापन होता, जबकि नहीं होता है।

प्रश्न-मूलम्-आगामि कर्म किम्?

मूलार्थ=आगामी कर्म क्या है?

उत्तर-मूलम्-ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं ज्ञानिदेहकृतं पुण्यपापरूपं कर्म यदस्ति तदागामीत्यभिधीयते।

मूलार्थ=ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं = ज्ञान हो जाने के उपरान्त, ज्ञानिदेहकृतं = ज्ञानी के शरीर द्वारा किया गया, पुण्यपापरूपंकर्म = पुण्य-पाप रूपी कर्म, यदस्ति तत् आगामी = जो है वह आगामी, इत्यभिधीयते = ऐसा कहा जाता है।

तत्त्वज्ञानोपरान्त ज्ञानी के शरीर से होने वाले कर्म को आगामी कहा जाता

है। यद्यपि आत्म-भाव में स्थित ज्ञानी कर्म नहीं करता (क्योंकि उसमें कर्त्तापन का भाव नहीं होता) अपितु देह रूपी उपकरण से स्वभावतः कर्म होते हैं अतः ज्ञानिदेहकृत कहा है। यद्यपि पाप-पुण्य की व्यवस्था भी उसके लिए नहीं है। फिर भी प्रेक्षक (देखने वाले) उसके कर्मों को पाप-पुण्य के रूप में देखते हैं। ज्ञानी के लिए कोई कर्म प्रतिबन्धक नहीं है।

प्रश्न-मूलम्-संचितं कर्म किम्?

मूलार्थ=संचित कर्म क्या है?

उत्तर-मूलम्=अनन्तकोटिजन्मनां बीजभूतं सन् यत्कर्मजातं पूर्वार्जितं तिष्ठति तत् सञ्चितं ज्ञेयम्।

मूलार्थ=अनन्तकोटिजन्मनां=अनन्तकोटिजन्मों के, बीजभूतं सन् = बीज रूप बन चुके, यत्कर्मजातं पूर्वार्जितं तिष्ठति = जो पूर्वाजित कर्म-समूह अभी तक है, तत्संचितं ज्ञेयम् = वे संचित कर्म है, ऐसा जानना चाहिए।

अज्ञानवशात् कर्मों में कर्त्तापन होता है। वही भाव बीज बन जाता है। पाप-पुण्य रुपक, दुःख-सुखमूलक ये कर्म-बेल बढ़ती जाती है। एक कर्म से असंख्य कर्म-परम्परा लहलहाती रहती है। करोड़ों जन्मों के विविध शरीरों द्वारा किये गये विविध कर्म, भोग बिना नष्ट नहीं होते। ये इकट्ठे होते रहते हैं।

प्रश्न-मूलम्=प्रारब्धकर्मकिमिति चेत्?

मूलार्थ=प्रारब्ध कर्म क्या है ?

उत्तर-मूलम्-इदं शरीरं उत्पाद्य इह लोके एवं सुखदुःखादि-प्रदं यत्कर्म तत्प्रारब्धं भोगेन नष्टं भवति प्रारब्ध-कर्मणां भोगादेव क्षय इति।

मूलार्थ=इदं शरीरं उत्पाद्य = इस शरीर को उत्पन्न करके, इह लोके = इस लोक में, एवं=इस प्रकार, सुखदुःखादिप्रदं = सुख-दुःख आदि प्रदान करने वाले, यत्कर्म तत्प्रारब्धं = जो कर्म हैं, वे प्रारब्ध हैं, भोगेन नष्टं भवति=भोग से ही नष्ट होते हैं, प्रारब्ध कर्मणां भोगादेव क्षयः इति=प्रारब्ध कर्मों का क्षय

भोग से ही होता है।

प्रारब्ध (भाग्य) या दैव- इस जन्म के प्रारम्भ के समय संचित कर्मों का एक भाग है जो इस जन्म के रूप गुण-सुख:दुख ज्ञान अज्ञान धन-जाति-शक्ति-भक्ति विरक्ति रूपी समस्त गुणावगुणों को देने वाला है वही प्रारब्ध कहलाता है।

यहाँ तक कि जन्म-भूमि कैसी और कहाँ होगी, माता-पिता कैसे होंगें, पड़ोसी कैसा होगा, मित्र-शत्रु कौन होंगें, ये सब इसी से निश्चित होता है और स्पष्ट कहें-तो प्रारब्ध कर्म हमारी जीवन-यात्रा की वह निर्मित फिल्म है जो प्रतिपल प्रदर्शित होती जायेगी। चाहे जो हो प्रारब्ध तो भोगना ही पड़ेगा, भोगे बिना ये मिटने वाला नहीं। भगवान भी मानव बनकर आएँ तो उन्हें भी भोगना ही होगा।

प्रारब्ध कर्म	**संचित कर्म**	**आगामी कर्म**
इस जन्म की जीवन-यात्रा के लिए बनी एक फिल्म की तरह है- जो भी इस जन्म में प्राप्त होगा इन्हीं के आधार पर होगा	अनन्त जन्मों के एकत्रित कर्म जो विविध जन्मों में किये गए हैं तथा विविध जन्मों में भोगने पड़ेंगे।	तत्त्वज्ञानोपरान्त ज्ञानी के देह से स्वभाववश होने वाले कर्म
बिना भोग के नष्ट नहीं होते। भोग द्वारा ही नष्ट	ज्ञान से नष्ट हो सकते हैं।	इनका फल ज्ञानी को नहीं भोगना पड़ता।

यद्यपि अन्यत्र तो संचित, प्रारब्ध व क्रियमाण इस प्रकार कर्मभेद हैं।

संचित-तो अनन्त जन्मों के कर्मों का अभुक्त समूह है।

प्रारब्ध-संचित कर्म-समूह से निकला एक भाग है, वर्तमान जीवन के भोग के लिए।

क्रियमाण-वर्तमान जीवन में किये जाने वाले शुभाशुभ कर्म हैं, जो संचित में जुड़ते जाते हैं।

भाग्य और पुरुषार्थ

भाग्य को प्रारब्ध, दैव, विधि आदि कहा जा सकता है। भाग्य (प्रारब्ध) पूर्व जन्मों में किये गये कर्मों के समूह (संचित कर्म) का वह भाग है जो इस जन्म की यात्रा का ब्लूप्रिंट है। पुरुषार्थ (क्रियमाण) इस जन्म में किये जाने वाले शुभाशुभ कर्म ही पुरुषार्थ है।

दोनों हैं कर्म ही।

भाग्य (प्रारब्ध) रूपी कर्म किये जा चुके हैं।

पुरुषार्थ (क्रियमाण) रूपी कर्म किये जा रहे हैं।

भाग्य (प्रारब्ध)	**पुरूषार्थ (क्रियमाण)**
◆ ये कर्म किये जा चुके हैं।	ये कर्म किये जा रहे हैं।
◆ भूतकाल से सम्बद्ध हैं।	वर्तमान से जुड़े हैं।
◆ इस जन्म की जीवन-यात्रा के निमित्त पके हुए कर्म जो फल रूप में परिणत हैं।	इस जन्म द्वारा बोए जाने वाले कर्म, जो संचित बनते जा रहे हैं।
◆ ये फल-रूप हैं, पकी फसल हैं।	ये बीज रूप हैं, बोए जा रहे हैं।
◆ वर्तमान जीवन में फल दे रहे हैं।	ये भविष्य में फल देंगें।
◆ पुरुषार्थ (क्रियमाण) ही एक दिन भाग्य (प्रारब्ध) बनता है।	प्रारब्ध (भाग्य) ही क्रियमाण कर्मों (पुरुषार्थ) का प्रेरक है।
◆ पुरुषार्थ निर्मित भाग्य है, किन्तु अगले जन्मों में।	भाग्यानुशासित पुरुषार्थ है।
◆ यहाँ कर्त्ता नहीं, भोक्ता है-परतन्त्र है।	यहाँ कर्त्ता स्व-विवेक के आश्रय से स्वतन्त्र है।

भाग्य व पुरुषार्थ दोनों में विरोध नहीं है। दोनों एक ही हैं। सत्कर्म सौभाग्य, दुष्कर्म दुर्भाग्य कहलाता है। अतः इस जीवन में प्राप्त (भाग्य) सुख-दुःख को भगवान् की कृपा का प्रसाद मानकर सन्तुष्ट होवें तथा मानव निरन्तर सत्कर्म में लगा रहे। विवाद में न पड़े कि भाग्य बड़ा या पुरुषार्थ। मेरे द्वारा बोए गए बीज ही मेरा भाग्य है। मेरे द्वारा किये जा रहे कर्म-बीज ही मेरा पुरुषार्थ है।

मूलम् = संचितं कर्म 'ब्रह्मैवाहमिति' निश्चयात्मकज्ञानेन नश्यति।

मूलार्थ=संचितं कर्म = संचित कर्म, ब्रह्मैवाहं = मैं ब्रह्म ही हूँ, इति = इस, निश्चयात्मकज्ञानेन = निश्चयात्मक ज्ञान से, नश्यति = नष्ट हो जाता है।

दग्ध बीज (जले हुए बीज) की भांति संचित कर्म में फल देने की शक्ति नहीं रहती। कैसे? जैसे अग्नि संसर्ग से बीज की अंकुरण क्षमता नष्ट हो जाती है, वैसे ही ज्ञानरूपी (ब्रह्मात्मैक्यज्ञान) अग्नि से संचित कर्मरूपी बीज फल-प्रसव क्षमता खो देता है।

'भर्जिताः क्वथिताः धानाः फलत्वाय नोपकल्प्यते।

मूलम्-आगामि कर्म अपि ज्ञानेन नश्यति किंच आगामी कर्मणां नलिनीदलगत जलवत् ज्ञानिनां सम्बन्धो नास्ति।

मूलार्थ=आगामि कर्म अपि = आगामी कर्म भी, ज्ञानेन नश्यति = ज्ञान से नष्ट हो जाता है, किं च आगामी कर्मणां = और आगामी कर्मों का, नलिनीदलगतजलवत् = कमलपत्र पर जैसे जल-बिन्दु नहीं ठहर पाता, ज्ञानिनां सम्बन्धो नास्ति = वैसे ही ज्ञानियों का कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

आत्मा तथा अनात्मा, चेतन तथा जड़, सत्य तथा मिथ्या, ब्रह्म तथा जगत् का जो अन्योन्याध्यास (अन्य की अन्य में प्रतीति) प्रतीत होता है वह तब तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाता है, उस अवस्था में तत्त्वज्ञानी, ब्रह्मनिष्ठ से कोई शुभाशुभ कर्म हो जाये तो उसका फल तत्त्ववेत्ता को नहीं भोगना पड़ता।

ज्ञानीकृतकर्मफल का भोक्ता कौन ?

प्रश्न होता है कि जब उन कर्मों का फल तत्त्ववेत्ता नहीं भोगता, तो कौन भोगता है ? बताते हैं-

मूलम्- किंच ये ज्ञानिनं स्तुवन्ति भजन्ति अर्चयन्ति तान्प्रति ज्ञानिकृतं आगामीपुण्यं गच्छति। येच ज्ञानिनं निन्दन्ति द्विषन्ति दुःखप्रदानं कुर्वन्ति तान्प्रति ज्ञानिकृतं सर्वमागामि क्रियमाणं यदवाच्यं कर्म पापात्मकं तद् गच्छति।

मूलार्थ=किंच ये ज्ञानिनं स्तुवन्ति = और जो ज्ञानी की स्तुति करते हैं, भजन्ति अर्चयन्ति = सेवा पूजा करते हैं, तान्प्रतिज्ञानिकृतं = उनके प्रति ज्ञानी द्वारा कृत, आगामि पुण्यं गच्छति = आगामी पुण्य जाता है। ये च ज्ञानिनं निन्दन्ति = और जो ज्ञानी की निन्दा करते हैं, द्विषन्ति = उनसे द्वेष करते हैं, दुःख प्रदानं कुर्वन्ति = दुःख देते हैं, तान्प्रति = उनको, ज्ञानिकृतं सर्वमागामि क्रियमाणं = ज्ञानीकृत सभी आगामी क्रियमाण, यदवाच्यं पापात्मकं कर्म = जो अकथनीय पापकर्म हैं, तत् गच्छति = वे जाते हैं अर्थात् उनका फल मिलता है।

सार्वभौम सिद्धान्त है और सुनिश्चित भी है कि कर्म अपना फल अवश्य देता है। अब ज्ञानी तो कर्मफल की पहुँच से ऊपर उठ गया अतः उसे तो ये फल मिलते नहीं-अब ज्ञानिकृत कर्मों का विभाग हो गया। शुभ कर्मों का फल ज्ञानी को समर्पित सेवकों को प्राप्त होता है; जो तत्त्ववेत्ता को वस्त्र-भोजन-आवास, शारीरिक सेवा एवं तपस्या में निर्विघ्नता निर्भयता प्रदान करते हैं।

अशुभ कर्मों का फल उनको मिलता है जो उसे दुःख देते हैं, भय प्रदान करते हैं, निन्दा करते हैं, साधना में विघ्न डालते हैं, उसकी किसी भी प्रकार की क्षति करते हैं।

एक प्रश्न किया किसी ने-जब सभी प्राणियों में आत्मा ही है और एक सज्जन की निन्दा करने से निन्दक को पाप लगता है तथा प्रशंसा करने से पुण्य मिलता है फिर अन्य सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा तत्त्वज्ञानी की निन्दा स्तुति में महान फल क्यों बताया। इसके दो कारण हो सकते हैं-

1. ज्ञानी तो शुभाशुभ कर्मों से निर्लिप्त रहते हैं। अतः न तो निन्दक से उन्हें घृणा होती है, न स्तुतिकर्ता से प्रीति। शास्त्रानुसार निन्दक और प्रशंसक को फल स्वतः मिलता ही है।

2. जो अन्तर आग की चिंगारी तथा प्रदीप्त महाग्नि में है, जो अंतर जल-बिन्दु और महासागर में है, वही अंतर एक सामान्य सज्जन की झिलमिलाती आत्म-चेतना तथा ज्ञानप्रभा से प्रदीप्त आत्मज्ञानी की आत्म-चेतना में है, ये तप का प्रभाव है।

मूलम् - तथा चात्मवित्संसारं तीर्त्वा ब्रह्मानन्दम् इहैव प्राप्नोति। तरति शोकमात्मवित् इतिश्रुतेः।

मूलार्थ=तथा च = और, आत्मवित्- आत्मज्ञानी, संसारं तीर्त्वा = संसार को पार कर, इहैव = यहीं पर इसी जीवन में, ब्रह्मानन्दं प्राप्नोति = ब्रह्मानन्द को पा लेता है, तरति शोकं आत्मवित् = आत्मवेत्ता शोक से पार हो जाता है, इतिश्रुतेः = ऐसा सर्वजनहितकारिणी भगवती श्रुति कहती है।

मूलम्-तनुंत्यजतु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽथवा।

ज्ञानसंप्राप्तिसमये मुक्ताऽसौ विगताशयः॥ इतिस्मृतेश्च

ज्ञानप्राप्ति होते ही यह जीव विशुद्ध अन्तः करण वाला होने से मुक्त हो जाता है। फिर यह स्वदेह को मलवत् काशी में छोड़े अथवा चाण्डाल के घ छोड़े क्या भेद। क्योंकि वह तो पहले ही परमात्मभाव को प्राप्त हो चुका है। वह अपनी पूर्णता की ऊँचाई में सब प्रकार से सुरक्षित है।

यद्यपि यह बात सर्वथा सत्य है। हमारे परम आराध्य परमपूज्य गुरूदेव सर्वभूतहृदय पूज्य स्वामी श्री विष्णु आश्रम जी महाराज (विहारघाट, शुक्रताल) सदा कहते थे-पककर सूखने पर पीपल का पत्ता टूटकर गंगाजल में गिरे या नाले में, सड़क पर या मंदिर में, गुफा में गिरे या पर्वत पर, क्या फर्क पड़ता है। परन्तु परमाचार्य धर्म-सम्राट् स्वामी श्री करपात्री जी महाराज ने किसी के जिज्ञासा करने पर कहा था-अरे भाई! मल-मूत्रादि त्याग के लिए भी व्यक्ति

साफ-स्वच्छभूमि खोजता ही है, ये शरीर भी जीर्ण होने पर त्यागना तो है ही अतः क्यों न अच्छी से अच्छी जगह त्यागा जाये। अतः वे देह-त्याग के लिए काशी जी को ही सर्वाधिक प्रशस्त मानते थे।

उपरोक्त दोनों दृष्टान्त कुछ विरोधी से प्रतीत होते हैं। पर ध्यानपूर्वक विचार करें तो दोनों सही हैं। छुटने में, छोड़ने में भारी भेद है। छुटे चाहे जहाँ, ये हमारे हाथ में नहीं है परन्तु छोड़ने में स्वतन्त्रता है।

देहासक्त व्यक्ति को तो मृत्यु का नाम सुनने मात्र से कँपकँपी आ जाती है। जबकि ब्रह्मनिष्ठ आत्म-ज्ञानी सोचता है मृत्यु तो जीवन का परिवर्तन है वस्त्र परिवर्तन की भांति। फिर कदाचित् मृत्यु है भी तो वह टाली नहीं जा सकती, क्योंकि आज तक उसे कोई टाल नहीं पाया। भगवान भी अवतरित हुए तब उनके स्वजन-सम्बन्धी तक इस मृत्यु पाश से कहाँ बचे। वैसे तो मृत्यु है ही नहीं। सनत्सुजात जी के शब्दों में-''प्रमादं वै मृत्युं अहं ब्रवीमि'' (हे धृतराष्ट्र! मैं कहता हूँ प्रमाद ही मृत्यु है)।

जैसे पतझड़-वसन्त, रात-दिन, दुःख-सुख प्रकृति की स्वाभाविक प्रक्रिया हैं ठीक वैसे ही देह-मुक्ति व देह-प्राप्ति है।

यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तः बन्धमुक्तो भविष्यसि।।
देह-भाव को हटाकर चैतन्यभाव में रमण करोगे तो।
अभी सुखी-शान्त तथा बन्धनमुक्त हो जाओगे।।

तत्त्वबोधप्रकरणम् सम्पूर्णम्

!! शिवार्पणमस्तु!!



त्र्यम्बकेश्वरश्चैतन्यः जी महाराज